निवेदन

स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक विकास में भारत की भाषाओं तथा उपभाषाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज यह अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे देश का अधिकांश पठित जन-समुदाय अपनी प्रादेशिक और समृद्ध जनपदीय भाषाओं के साहित्य से सर्वथा अपरिचित है। कुछ दिन पूर्व हमने 'सरस्वती सहकार' नामक संस्था की स्थापना करके उसके द्वारा 'भारतीय साहित्य-परिचय' नामक एक पुस्तक-माला के प्रकाशन की योजना बनाई और इसके अन्तर्गत भारत की लगभग २६ भाषाओं और समृद्ध उपभाषाओं के साहित्यिक विकास की रूप-रेखा का परिचय देने वाली पुस्तकें प्रकाशित करने का पुनीत संकल्प किया। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य हिन्दी-भाषी जनता को सभी भाषाओं की साहित्यिक गति-विधि से अवगत कराना है।

हर्ष का विषय है कि हमारी इस योजना का समस्त हिन्दी-जगत् ने उत्फुल्ल हृदय से स्वागत किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस पुस्तक-माला का एक मनका है। आशा है हिन्दी-जगत् हमारे इस प्रयास का हार्दिक स्वागत करेगा। इस प्रसंग में हम पुस्तक के लेखक श्री गोपीनाथ 'अमन' के हार्दिक आभारी हैं, जिन्होंने अपने व्यस्त राजनीतिक जीवन में से कुछ अमूल्य क्षण निकालकर हमारे इस पावन यज्ञ में सहयोग दिया है। राजकमल प्रकाशन के सञ्चालकों को भूल जाना भी भारी कृतघ्नता होगी, जिनके सक्रिय सहयोग से हमारा यह स्वप्न साकार हो सका है।

३६७१ हाथीखाना
पहाड़ी धीरज, दिल्ली—६

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

प्रस्तावना

हिन्दी-भाषा का भविष्य उसकी विशालता में निहित है। राष्ट्र-भाषा होने के नाते हिन्दी को न तो किसी भाषा से ईर्ष्या हो सकती है और न होनी ही चाहिए। श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' का यह विचार अत्यन्त शुभ है कि हिन्दी-भाषा-भाषियों को अन्य भाषाओं के साहित्य के संक्षिप्त इतिहास से परिचित कराया जाय। जहाँ तक उर्दू का सम्बन्ध है वह तो हिन्दी के निकटतम है, उसके शब्द प्रायः एक ही हैं और क्रियाओं के रूप भी एक ही-से हैं, मुख्यतः लिपि का भेद है। ऐसी दशा में हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए उर्दू-साहित्य की रूपरेखा का ज्ञान होना बहुत लाभदायक है।

मुझे यह दावा नहीं कि इस पुस्तक को पढ़कर उर्दू-भाषा और साहित्य का मार्मिक ज्ञान हो सकता है, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि इसके द्वारा उर्दू-साहित्य और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के जानने का उत्साह पाठकों में अवश्य उत्पन्न होगा। यह लाभदायक भी है और उपयोगी भी। आशा है मेरे इस प्रयास का साहित्य-जगत् में समुचित समादर होगा।

—गोपीनाथ 'अमन'

क्रम

: १ :

भाषा का जन्म

प्रारम्भिक अवस्था

किसी भी भाषा के सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि वह कब बनी। भाषाओं का विकास इतना क्रमिक होता है कि उसकी नाप-तौल नहीं की जा सकती। जहाँ तक उर्दू का सम्बन्ध है, उसका और खड़ी बोली हिन्दी का भेद बहुत थोड़ा है। इसी कारण कभी-कभी यह विवाद छिड़ जाता है कि खड़ी बोली हिन्दी से उर्दू निकली या उर्दू से खड़ी बोली हिन्दी निकली। हम यहाँ इस वाद-विवाद में पड़ना नहीं चाहते। उर्दू के विषय में यह भी कहना कठिन है कि उसका जन्म किस प्रान्त में हुआ। एक मत यह है कि उसकी बुनियाद पंजाब में पड़ी, और इस भाषा के प्रथम चिह्न 'पृथ्वीराज रासो' में मिलते हैं। दूसरा विचार यह है कि मुहम्मद बिन कासिम ने जब सिन्ध पर धावा किया तो वहाँ आक्रमणकारियों और देश-निवासी जनता के सम्पर्क से इस भाषा की दाग़बेल पड़ी। एक तीसरे विचार के अनुसार उर्दू का जन्म दक्षिण में हुआ। कहते हैं कि जब मुहम्मद तुग़लक़ के मन में यह धुन समाई कि इस देश की राजधानी दक्षिण में बनाई जाय, तब दिल्ली की जनता को दौलताबाद ले जाया गया और वहाँ ही उर्दू का जन्म हुआ। गोलकुण्डा, बीजापुर आदि के मुसलमान बादशाहों ने जो

थे, और जैसा कि पहले लिखा जा चुका है 'दक्षिणी' भी। एक शब्द इसके लिए 'रेख़्ता' भी प्रचलित था। 'रेख़्ता' फ़ारसी शब्द है, जिसका अर्थ है गिरा हुआ। उर्दू को गिरा हुआ इसलिए कहा गया कि जैसे तुलसीदास ने हिन्दी में 'रामायण' लिखते हुए यह कहा है—मैं पंडित नहीं हूँ इसलिए संस्कृत में नहीं बल्कि साधारण भाषा में यह पुस्तक लिख रहा हूँ। उसी प्रकार फ़ारसी के विद्वान् उर्दू भाषा में कुछ लिखते-पढ़ते झेंपते थे और इसको गिरी हुई भाषा समझते थे। ग़ालिब की उर्दू-कविता का जब मान हुआ तब उन्होंने कहा कि :

वह जो कहे कि रेख़्ता कैसे हो रश्के फ़ारसी,
गुफ़्तये ग़ालिब एक बार पढ़के उसे सुना कि यों।

और उर्दू-गद्य में लिखना-पढ़ना तो इसके बहुत ही बाद में आरम्भ हुआ।

अमीर खुसरो

जैसा पहले लिखा जा चुका है कि किसी भाषा के जन्म की कोई निश्चित तिथि नहीं कही जा सकती। हाँ, यदि कोई एक व्यक्ति उर्दू का जन्मदाता कहा जा सकता है तो वह अमीर खुसरो है। अमीर खुसरो का जन्म उत्तर प्रदेश में १३वीं शताब्दी में हुआ। उनकी जन्मभूमि पटियाली जिला एटा है। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि उर्दू का जन्म उत्तर प्रदेश में हुआ, परन्तु यह भी निश्चित है कि अमीर खुसरो का कार्य-क्षेत्र विशेषतः दिल्ली ही रहा है।

वे अभी बालक ही थे कि उनकी भेंट हजरत ख्वाजा निजामुद्दीन से हुई। ख्वाजा निजामुद्दीन सूफ़ी मत के एक माने हुए सन्त थे। अमीर खुसरो पर उनका प्रभाव ही नहीं पड़ा, बल्कि वे उनके मुख्य शिष्य और उनकी मृत्यु के बाद उनके एक-मात्र उत्तराधिकारी भी हुए। भारत में सूफ़ी मत ने जो रूप धारण किया उसमें एक मिली-जुली संस्कृति के अंकुर पूर्ण रूप से पाये जाते थे। फिर स्वयं अमीर खुसरो की माता हिन्दू थीं और पिता एक मुसलमान। इस प्रकार अमीर खुसरो इसके लिए सर्वथा योग्य थे कि वे दो

सभ्यताओं के सामञ्जस्य से एक नई भाषा को जन्म दें।

अमीर खुसरो-जैसी योग्यता के मनुष्य संसार में बहुत कम हुए हैं। वे सन्त भी थे और सिपाही भी, कवि भी और गायनाचार्य भी, राजनीति में निपुण भी और हास्य रस के आचार्य भी। कहा जाता है कि सितार इन्हींका बनाया हुआ वाद्य है और रागों के सम्बन्ध में भी उनकी खोज बहुत प्रसिद्ध है। मुख्यतः वे फ़ारसी के कवि थे परन्तु हास्य रस में कभी-कभी हिन्दी भी अपनाते थे। फ़ारसी में उनकी चार काव्य-रचनाएँ हैं और हिन्दी में भी उनकी 'मुकरनियाँ', 'पहेलियाँ' तथा 'किंवदन्तियाँ' आज तक प्रसिद्ध हैं। परन्तु जिस विषय का हमें यहाँ उल्लेख करना है वह फ़ारसी और हिन्दी की मिली-जुली कविता है। उनकी ऐसी एक ग़ज़ल के दो शैर नीचे दिये जाते हैं :

(१) ज़ि हाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल, दुराये नैना बनाये बतियाँ।
कि ताबे हिज्राँ न दारम् एजा, न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥

(२) शबाने हिज्राँ दराज़ चू ज़ुल्फ़, व रोज़े वसलत, चु उम्र कोताह।
सखी पिया को जो मैं ना देखूँ, तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ॥

इन शैरों में उर्दू-भाषा के प्रथम चिह्न पाये जाते हैं—आधी फ़ारसी और आधी हिन्दी। इसे अमीर खुसरो का प्रथम प्रयास समझना चाहिए। परन्तु इससे भी बढ़कर उसका यह प्रयत्न 'खालिक़बारी' नाम की पुस्तक में दिखाई देता है जिसमें उन्होंने अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के शब्द इकट्ठे किये हैं :

ख़ालिक़बारी सिरजन हार। वाहिद एक बिदा करतार॥
रसूल पैग़म्बर जान बसीठ। यार दोस्त बोली जा ईठ॥
बिया बिरादर आओ रे भाई। बिनशीं मादर बैठरी माई॥

इसी प्रकार सारी पुस्तक में विभिन्न भाषाओं का ज्ञान कराया गया है। पहले यह पुस्तक छोटे-छोटे बालकों को शब्द-बोध कराने के लिए पढ़ाई जाती थी। डॉ० ताराचन्द ने इस पुस्तक के विषय में यह सन्देह प्रकट किया है कि यह रचना अमीर खुसरो की नहीं है, वरन् मध्यकालीन कवियों में से किसी की है। परन्तु विद्वानों का बहुमत इसीके पक्ष में है कि यह अमीर खुसरो

की ही रचना है। अमीर खुसरो ने एक ही शब्द के फ़ारसी और हिन्दी अर्थों से यमक भी निकाले हैं, जैसे—सुख़न मी कुनेम बात। यहाँ फ़ारसी में 'बात' का मतलब है 'तुझसे' और हिन्दी शब्द 'बात' 'सुख़न' का पर्यायवाची है। इसी प्रकार 'सद वर्ग ज़ेरे पात' में 'पात' का अर्थ है तेरे पाँव और हिन्दी शब्द 'पात', जो पत्तों के लिए प्रयुक्त होता है, फ़ारसी शब्द 'वर्ग' का पर्यायवाची है। इसी प्रकार 'फ़ारसी बोली आइना' में यह भी अर्थ होते हैं कि आइना फ़ारसी की बोली है और यह भी कि वह फ़ारसी बोलने पर नहीं आई। इसी प्रकार मनोरंजन के रूप में अमीर खुसरो ने एक नई भाषा का निर्माण कर दिया। उन्हें खड़ी बोली का भी प्रथम प्रवर्तक माना जाता है और यहीं से यह विवाद आरम्भ होता है कि पहले उर्दू थी या खड़ी बोली। हम समझते हैं कि एक ही भाषा के यह दोनों रूप हैं। यह बात और है कि उर्दू वाले कहें कि हिन्दी कोई एक भाषा नहीं या हिन्दी वाले कहें कि उर्दू कोई भाषा नहीं। अमीर खुसरो का यह प्रयत्न मुग़लों के समय में विकसित रूप में आया, जिसकी चर्चा हम आगे की पंक्तियों में करेंगे।

मुग़ल-राज्य से पहले

अभी इस बारे में बहुत कम खोज की गई है कि 'पश्तो' भाषा का प्रभाव उर्दू भाषा पर क्या पड़ा। पठान मुग़लों से पहले इस देश में आये थे। उन्हींके साथ-साथ पश्तो भाषा के शब्द भी आए। फ़ारसी भाषा से 'फ़, ग़, ज़' के अक्षर आए और देशीय भाषा से 'ट, ठ, ड, ढ' इत्यादि। न यहाँ की भाषा में 'फ़' या 'ग़' इत्यादि थे और न फ़ारसी में 'ट' और 'ढ' इत्यादि। इसलिए उर्दू में पीने के लिए 'ग़टाग़ट', जल्दी के लिए 'पटापट', कबूतर की बोली के लिए 'गुटर गूँ' इत्यादि जो शब्द बने, उन्हें पश्तो की ही देन समझना चाहिए। यद्यपि अंग्रेजी भाषा में यह दोनों प्रकार के अक्षर मिलते हैं, परन्तु उस समय तक हमारे देश की भाषा पर अंग्रेजी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। पश्चिमी भाषाओं का प्रभाव पुर्तगाली भाषा के

द्वारा पड़ना आरम्भ हुआ। 'मेज़', 'क़मीज़', 'पुताम' या 'वतन' और 'साबुन' यह शब्द अंग्रेज़ी भाषा के आने से पहले ही भारत में आ चुके थे। इनका सम्बन्ध पुर्तगाल की भाषा से है। उत्तरी भारत की भाषा में 'साबुन' शब्द का प्रयोग सबसे पहले गुरु नानक साहब ने अपने 'जपजी' नामक ग्रन्थ में किया। जिसमें वह लिखते हैं :

मूत पलीती कप्पड़ होय।
दे सबून लइये ओ धोय॥
भरिये मत पापा के संग।
ओ धोपय नामे के रंग॥

अर्थात् यदि कपड़ा पलीद या अपवित्र हो जाय तो उसको साबुन से धो लेते हैं और यदि बुद्धि पाप में सन जाय तो वह हरि-नाम के रंग से धुल सकती है। यहाँ 'साबुन' के लिए 'सबून' शब्द का प्रयोग किया गया है। शायद पंजाब में यह शब्द इसी रूप में प्रचलित हो। परन्तु गुरु नानक साहब से पहले कबीर साहब का जन्म हुआ था, जिन्होंने १२० वर्ष की आयु पाई। इसलिए उन्होंने अपने जीवन-काल में तुग़लक़, सैयद और लोदी इन तीन वंशों का राज्य देखा और बहुत-से परिवर्तन भी देखे। स्वयं उनके जन्म के सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं है कि वे हिन्दू थे या मुसलमान। बहुधा ऐसा माना जाता है कि वे जन्म से ब्राह्मण थे, परन्तु एक मुसलमान जुलाहे के यहाँ उनका पालन-पोषण हुआ था। जो कुछ भी हो, कबीर के जीवन में हमें हिन्दू और मुस्लिम सभ्यताओं का वही समन्वय दिखलाई देता है जो उर्दू भाषा में है। अमीर खुसरो के पश्चात् उर्दू भाषा के अंकुर सबसे अधिक कबीर के यहाँ मिलते हैं। कहीं-कहीं तो उनके दोहे हिन्दुओं और मुसलमानों में थोड़े-थोड़े शब्द-भेद से मिलते हैं। जैसे :

ना हम किया, न करेंगे, ना कर सके शरीर।
जो कुछ किया सो हरि किया, भयो कबीर कबीर॥

इसका दूसरा पद मुसलमानों में इस रूप में प्रचलित है :

जो कुछ किया सो रब किया हुआ कबीर कबीर।

'रब' शब्द अरबी का है, जो 'सिरजनहार' के अर्थ में आता है। 'हरि' और 'रब' में बराबर की मात्राएँ होने के कारण कबीर के बहुत-से दोहों के प्रचलित रूप में यही शब्द-भेद मिलता है। कबीर परमात्मा का नाम कहीं 'हरि' और कहीं 'रब' शब्द से लेते हैं, परन्तु उनके यहाँ परमात्मा के लिए 'साहब' शब्द का प्रयोग भी बहुत हुआ है। जैसे :

साहब इतना दीजिये, जामें कुटुम समाय।
आपहुँ भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

इस दोहे में कबीर साहब के उपदेश का असली रंग भी झलकता है। एक और दोहे में वे कहते हैं :

साहब के दरबार में कमी काहु की नाँहिं।
बन्दा मौज न पावही, चूक चाकरी माँहिं॥

इस दोहे में 'साहब' अरबी, 'दरबार' और 'बन्दा' फ़ारसी, 'मौज' फिर 'अरबी' और 'चाकरी' तुर्की भाषा के शब्द हैं। ऐसे ही दोहे में हमें उर्दू की प्रथम रूपरेखा मिलती है। यही कारण है कि ऐसी कविताएँ कबीर के ५०० वर्ष बाद भी जोर-शोर से जीवित हैं। उनका एक और दोहा है :

अव्वल अल्लह नूर उपाया, क़ुदरत के सब बन्दे।
एक नूर से सब जग उपजा, कौन भले कौन मन्दे॥

अर्थात् परमात्मा ने पहले-पहल एक प्रकाश को जन्म दिया, उसकी प्रकृति में सब बँधे हुए हैं और जब एक ही विकास से सब उत्पन्न हुए हैं तो भला-बुरा किसे कहा जाय ? एक और दोहा है :

कबिरा खड़ा बजार में, सबकी माँगे खैर।
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर॥

इसमें प्रथम चरण में 'बजार' 'बाजार' का अपभ्रंश है और 'बाजार' फ़ारसी भाषा का शब्द है। 'खैर', अरबी है और दूसरे चरण में 'दोस्ती' फ़ारसी है।

विद्यापति ठाकुर कबीर साहब से भी पहले हुए हैं। उन्होंने तो 'बाजार' के लिए 'बजरिया' शब्द का प्रयोग किया है। अब हमारी बोली में 'बजार' और 'बजरिया' प्रचलित हो चुके हैं। गुरु नानक साहब की भाषा में भी

फ़ारसी के वहुत-से शब्द हैं।

तिलंग राग में फ़ारसी के शब्द 'गुरु ग्रन्थ साहब' में वहुत-से मिलते हैं। जैसे :

यक अर्ज़ गुफ़्तम्, पेशे तो दर गोश कुन करतार।

इसमें 'करतार' के अतिरिक्त सभी शब्द फ़ारसी के हैं। इसी प्रकार :

अस्ति एक दिगर कुई एक तुई एक तुई।

इसमें भी अधिक शब्द फ़ारसी के हैं।

इस प्रकार पंजाब और उत्तर प्रदेश दोनों में एक नई भाषा वन रही थी, जो सन्तों और सूफ़ियों के द्वारा कविता के रूप में प्रकट हुई।

दक्षिण में

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जब मुहम्मद तुग़लक़ ने अपनी राजधानी को दिल्ली से हटाकर दौलताबाद में स्थापित किया, तो उसका प्रभाव भाषा पर भी पड़ा। मुहम्मद तुग़लक़ ने यह प्रस्थान किया तो इस कारण था कि उस समय में यातायात के अधिक साधन न होने के कारण दिल्ली में बैठे-बैठे दक्षिण पर राज्य करना कठिन था। परन्तु इस राजनीतिक चाल का प्रभाव वोल-चाल पर भी पड़ा। दक्षिण में फ़ारसी के शब्द प्रचलित हुए। यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि जहाँ तक सिन्ध का सम्बन्ध है वहाँ अरबी के शब्द मुहम्मद बिन कासिम की आक्रमणकारी सेनाओं के साथ आये। परन्तु गुजरात और बम्बई में अरबी नहीं वल्कि फ़ारसी के शब्द आये। कारण यह था कि जब आठवीं शताब्दी में अरब के मुसलमानों का आक्रमण ईरान पर हुआ, जिसको फ़ारस या पारस भी कहते थे, तो ईरान के रहने वाले, जो मुसलमान होना नहीं चाहते थे, अपना धर्म लेकर भारत की ओर भागे। यह लोग पारसी कहलाये, और आज वे भारत की बहुत सुसंस्कृत जातियों में गिने जाते हैं। इनकी भाषा फ़ारसी थी। जब यह गुजरात में रहने लगे तो गुजराती के शब्द भी इनकी भाषा में मिल-जुल गए। कुछ तो गुजरात के रहने वालों ने फ़ारसी शब्द सीखे और कुछ

इन्होंने गुजराती के, इस प्रकार गुजरात में भी एक नवीन भाषा जन्मी, उर्दू से जिसका अधिक निकट का सम्बन्ध है। उर्दू के श्रेष्ठ कवि 'वली' के सम्बन्ध में भी यह कहा जाता है कि वह गुजराती था और उसका जन्म अहमदाबाद में हुआ था।

मुहम्मद तुग़लक़ की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् तुग़लक़ों का प्रभाव कम होने लगा और जिस प्रकार एक शासन के दुर्बल हो जाने पर विद्रोही नये-नये राज्य बना लेते हैं ऐसा दक्षिण में भी हुआ। ज़फ़रखाँ तुग़लक़-राज्य का एक उच्च पदाधिकारी था, जिसको दक्षिण में नियुक्त किया गया था। उसने विद्रोह करके दक्षिण में एक अलग राज्य स्थापित कर लिया, जो 'बहमनी' राज्य कहा जाने लगा। इस बहमनी शब्द के बारे में भी मतभेद है। कोई तो कहता है कि यह 'ब्राह्मण' शब्द का अपभ्रंश है और किसी-किसी का विचार है कि 'बहमन' जो फ़ारसी शब्द है उसीसे यह 'बहमनी' बना। जो कुछ भी हो, इस ज़फ़रखाँ ने अपना नाम अलाउद्दीन हसन गंगो बहमनी रख लिया। यह भी हो सकता है कि उसने जान-बूझकर द्व्यर्थक शब्द बहमनी रखा हो, क्योंकि बचपन से उसको गंगो नामी एक ब्राह्मण ने पाला-पोसा था। राज्य स्थापित करने पर इसी गंगो को उसने अपना मन्त्री बनाया। राजा और मन्त्री को एक दूसरे की भाषा के शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता था। इन दोनों ने यह भी सोचा कि स्थानीय भाषाओं में अरबी-फ़ारसी के शब्दों को जोड़कर एक नई भाषा बनाई जाय जिससे कि शासन का कार्य चले। उनकी राज्य-भाषा में मराठी, तैलुगु, कन्नड़ और अरबी-फ़ारसी के शब्द मिले-जुले थे। पहले इस भाषा को 'हिन्दुवी' कहते थे, शनैः-शनैः उसका नाम 'हिन्दी' हो गया और कुछ समय के बाद उसे 'दक्षिणी' भी कहा जाने लगा। इसी प्रकार जैसे उत्तर में एक नूतन भाषा का जन्म हो रहा था वैसे ही दक्षिण में भी एक नवीन भाषा बन रही थी, परन्तु वह अभी साहित्यिक भाषा नहीं बनी थी। यहीं हमें इस प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है कि जब आर्य भाषाओं में लिङ्ग-भेद से क्रियाओं का रूपान्तर नहीं होता तो फिर खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू में क्यों होता है?

अरबी में लिङ्ग-भेद से क्रियाएँ बदल जाती हैं। इसी कारण अरबी का प्रभाव पड़ने पर भारतीय भाषाओं में क्रियाओं का लिङ्ग-भेद होने लगा। यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि पूर्वी हिन्दी में खड़ी बोली की भाँति क्रियाओं का लिङ्ग-भेद नहीं होता। खड़ी बोली में तो 'पुरुष' के लिए कहेंगे कि "वह आता है", और 'स्त्री' के लिए "वह आती है", परन्तु पूर्वी हिन्दी भाषा में "ऊ आवत हैं" कहने से स्त्री-पुरुष दोनों का बोध होता है। पूर्वी भाषा के कई रूपान्तर हैं; उनमें से कुछ में यह लिङ्ग-भेद मिलता भी है।

उर्दू भाषा की आदिम अवस्था का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि दक्षिण में उसने साहित्यिक रूप उत्तर से पहले धारण किया। मीर के जिस शेर का उद्धरण पहले दिया जा चुका है उससे भी यह प्रकट होता है कि अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली के प्रमुख कवियों ने उर्दू-कविता की शैली दक्षिण से ही प्राप्त की। मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में वली के आने से उत्तर और दक्षिण के उर्दू-साहित्य का और भी निकट सम्पर्क हो गया। कहते हैं कि वली जब दिल्ली से दक्षिण गया तो वहाँ उसका जी नहीं लगा और उसने यह शेर लिखा :

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ।

यही 'सूँ' कुछ दिनों पश्चात् 'सों' और फिर 'सें' बन गया। धीरे-धीरे यह बिन्दु भी मिट गया और प्रचलित हिन्दी और उर्दू भाषा में यही शब्द अब 'से' के रूप में है।

दक्षिण में ही सबसे पुराना उर्दू-गद्य 'ख्वाजा बन्दा नवाज, गेसूँ दराज' का मिलता है।

: २ :

कविता का विकास

मुग़ल-साम्राज्य में

बाबर ने जब भारत पर आक्रमण किया तो उसका सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा। जैसे सुलतान महमूद ग़ज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी का प्रभाव यह पड़ा था कि 'पृथ्वीराज रासो' में हमें अरबी और फ़ारसी के बहुत-से शब्द मिलते हैं वैसे ही बाबर के आने के पश्चात् सिख-गुरुओं की कविता में फ़ारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग मिलता है।

गुरु नानक के बारे में तो पहले ही लिखा जा चुका है कि उनकी कविता का विकास लोदी शब्द में हुआ। गुरु नानक के बाद नौ और सिख गुरु हुए, जिनमें से दूसरे गुरु अंगददेव जी की कविता बहुत थोड़ी है। सातवें और आठवें गुरु हरिराम जी और हरिकृष्ण जी की कविता नहीं मिलती। शायद उन्होंने कुछ लिखा ही नहीं। छठे गुरु हरिगोविन्द जी की कविता 'ग्रन्थ साहब' में तो नहीं परन्तु 'गुरु विलास' नाम के एक अलग ग्रन्थ में मिलती है। नवें गुरु तेग़बहादुर जी का अधिक समय पंजाब से बाहर बीता। बहुत दिनों तक उनका कार्य-क्षेत्र पटना रहा, इसलिए उनकी कविता में अरबी-फ़ारसी-शब्दों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। गुरु गोविन्दसिंह दसवें गुरु थे। इन्होंने अपनी कविता का संग्रह एक पृथक् ग्रंथ में किया, जो 'दशमेश

अरबी में लिङ्ग-भेद से क्रियाएँ बदल जाती हैं। इसी कारण अरबी का प्रभाव पड़ने पर भारतीय भाषाओं में क्रियाओं का लिङ्ग-भेद होने लगा। यह बात तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि पूर्वी हिन्दी में खड़ी बोली की भाँति क्रियाओं का लिङ्ग-भेद नहीं होता। खड़ी बोली में तो 'पुरुष' के लिए कहेंगे कि "वह आता है", और 'स्त्री' के लिए "वह आती है", परन्तु पूर्वी हिन्दी भाषा में "ऊ आवत हैं" कहने से स्त्री-पुरुष दोनों का बोध होता है। पूर्वी भाषा के कई रूपान्तर हैं; उनमें से कुछ में यह लिङ्ग-भेद मिलता भी है।

उर्दू भाषा की आदिम अवस्था का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि दक्षिण में उसने साहित्यिक रूप उत्तर से पहले धारण किया। मीर के जिस शैर का उद्धरण पहले दिया जा चुका है उससे भी यह प्रकट होता है कि अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली के प्रमुख कवियों ने उर्दू-कविता की शैली दक्षिण से ही प्राप्त की। मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में वली के आने से उत्तर और दक्षिण के उर्दू-साहित्य का और भी निकट सम्पर्क हो गया। कहते हैं कि वली जब दिल्ली से दक्षिण गया तो वहाँ उसका जी नहीं लगा और उसने यह शैर लिखा :

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ।

यही 'सूँ' कुछ दिनों पश्चात् 'सों' और फिर 'सें' बन गया। धीरे-धीरे यह बिन्दु भी मिट गया और प्रचलित हिन्दी और उर्दू भाषा में यही शब्द अब 'से' के रूप में है।

दक्षिण में ही सबसे पुराना उर्दू-गद्य 'ख्वाजा बन्दा नवाज, गेसूँ दराज' का मिलता है।

: २ :

कविता का विकास

मुग़ल-साम्राज्य में

बाबर ने जब भारत पर आक्रमण किया तो उसका सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा। जैसे सुलतान महमूद ग़ज़नवी और मुहम्मद ग़ोरी का प्रभाव यह पड़ा था कि 'पृथ्वीराज रासो' में हमें अरबी और फ़ारसी के बहुत-से शब्द मिलते हैं वैसे ही बाबर के आने के पश्चात् सिख-गुरुओं की कविता में फ़ारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग मिलता है।

गुरु नानक के बारे में तो पहले ही लिखा जा चुका है कि उनकी कविता का विकास लोदी शब्द में हुआ। गुरु नानक के बाद नौ और सिख गुरु हुए, जिनमें से दूसरे गुरु अंगददेव जी की कविता बहुत थोड़ी है। सातवें और आठवें गुरु हरिराम जी और हरिकृष्ण जी की कविता नहीं मिलती। शायद उन्होंने कुछ लिखा ही नहीं। छठे गुरु हरिगोविन्द जी की कविता 'ग्रन्थ साहब' में तो नहीं परन्तु 'गुरु विलास' नाम के एक अलग ग्रन्थ में मिलती है। नवें गुरु तेग़बहादुर जी का अधिक समय पंजाब से बाहर बीता। बहुत दिनों तक उनका कार्य-क्षेत्र पटना रहा, इसलिए उनकी कविता में अरबी-फ़ारसी-शब्दों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। गुरु गोविन्दसिंह दसवें गुरु थे। इन्होंने अपनी कविता का संग्रह एक पृथक् ग्रंथ में किया, जो 'दशमेश

ग्रन्थ' के नाम से प्रचलित है ।

नई भाषा के प्रकाश की प्रगति सबसे अधिक अकबर के समय में हुई । अकबर के मन्त्रियों में टोडरमल का एक मुख्य स्थान था । टोडरमल ने एक ओर तो मुसलमान कर्मचारियों को हिन्दी-भाषा लिखने का हुक्म दिया और दूसरी ओर हिन्दू-कर्मचारियों को फ़ारसी सीखने का आग्रह किया । आजकल पटवारियों के काग़ज़ों में जो प्रचलित शब्द मिलते हैं उनमें से अधिकतर अकबर के समय के हैं । इनमें हिन्दी से बने हुए शब्द 'खाता' और 'खतौनी' और फ़ारसी से बने हुए शब्द 'खसरा' और 'जमाबन्दी' मिलते हैं । मुग़ल-साम्राज्य के पहले ही पटवारियों की प्रथा चल चुकी थी । यद्यपि उस समय के पटवारियों की भाषा के बारे में अभी कोई खोज नहीं हो सकी है । कबीर के यह लिखने से कि :

बाबा अब न बसौं यह गाँव
घड़ी-घड़ी का लेखा माँगे, कायथ चेतू नाम ।

यह प्रतीत होता है कि लोदी राज्य से पहले ही पटवारियों का काम कायस्थों के हाथों में आ चुका था । शेरशाह के समय में भी टोडरमल की चलाई हुई प्रथा प्रचलित रही, परन्तु यहाँ अकबर के दरबार की एक और बात लिख देना आवश्यक है ।

भारत में जिस मुस्लिम सम्राट् ने सबसे अधिक हिन्दुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक समन्वय का प्रयत्न किया वह अकबर था । उसके दरबार में अनेक मतों के विद्वान् इकट्ठे हुआ करते थे और उनमें आपस में धार्मिक वाद-विवाद होता था । इसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, यहूदी विद्वान् सम्मिलित होते थे । यों तो भारत में ईसाई इस्लाम धर्म के विकास से पहले ही आने लगे थे परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में पुर्तगालियों के भारत में आने के बाद सोलहवीं शताब्दी में यूरोपियन देशों के बहुत-से ईसाई भारत में आ चुके थे । इन विविध मतों के विद्वानों की भाषा में जो धार्मिक शब्द थे उनकी व्याख्या एक-दूसरे की भाषा से करनी पड़ती थी । इससे भी एक नई भाषा के जन्म में सहायता मिली । उदाहरण-स्वरूप 'मन्दिर' एक संस्कृत

शब्द है, जो हिन्दी भाषा में 'मन्दिर' हो गया। जब फ़ारसी वालों ने इसको अपनाया तो 'मन्दिर' शब्द फ़ारसी में भी प्रचलित हो गया और जिस प्रकार 'मस्जिद' का बहु वचन 'मसाजिद' बनता है उसी प्रकार 'मन्दिर' का बहु वचन 'मनादिर' बनने लगा है। 'बुत' शब्द, जो फारसी में मूर्ति के लिए आता है, 'बुद्ध' शब्द का अपभ्रंश बतलाया जाता है।

अकबर स्वयं हिन्दी का कवि था। कविता में उसका नाम 'अकब्बर' था। अकबर के दरबार में अब्दुल रहीम खानखाना एक बड़ा पदाधिकारी था, जो केवल अच्छा राजनीतिज्ञ ही नहीं प्रत्युत हिन्दी का कवि भी था। हिन्दी में रहीम के दोहे आज भी बड़े चाव से पढ़े जाते हैं।

शाहजहाँ के समय में यह नवीन भाषा उर्दू के नाम से प्रचलित हुई। शाहजहाँ के समय में ही उर्दू की सबसे पहली ग़ज़ल लिखी गई। यह ग़ज़ल कहने वाला 'चन्द्रभान' नाम का एक ब्राह्मण था, जो उर्दू और फ़ारसी में 'बिरहमन' तख़ल्लुस (उपनाम) रखता था। उसकी ग़ज़ल यह है :

न जाने किस शहर अन्दर, हमन को लाके डाला है।
न दिलबर है, न साक़ी है, न शीशा है, न प्याला है॥
पिया के नाँव की सुमिरन, किया चाहूँ, करूँ कैसे ?
न तस्बीह है, न सुमिरन है, न कण्ठी है, न माला है॥
पिया के नाँव आशिक को, क़तल बा अजब देखे हूँ।
न बरछी है, न करछी है, न ख़ञ्जर है, न भाला है॥
ख़ूबाँ के बाग़ में रौनक़, होवे तो किस तरह यारों।
न दोना है, न मरवा है, न सौसन है, न लाला है॥
'बिरहमन' वास्ते अस्नान के, फिरता है बगिया में।
न गंगा है, न जमुना है, न नदी है, न नाला है॥

कुछ प्रसिद्ध कविगण

उत्तर भारत में जो कबीर का समय था लगभग उसी समय दक्षिण में

उस साहित्य का विकास हुआ जिसको हम उर्दू की प्रथम रूपरेखा कह सकते हैं। 'बहमनी' राज्य को जब तक अकबर ने छिन्न-भिन्न नहीं किया उस समय तक बीजापुर और गोलकुण्डा में वहाँ के मुसलमान राजाओं के दरबार में शैर-शायरी का बहुत चर्चा रहता था। वे भी कविताएँ लिखते थे और उनके दरबारी कवि भी। क़ुतुबशाही राज्य का प्रवर्त्तक *अली क़ुतुब शाह* स्वयं भी कवि था। सुलतान मोहम्मद क़ुली क़ुतुब शाह और उसके पिता इब्राहीम क़ुतुब शाह अकबर के समकालीन थे। यह गोलकुण्डा का बादशाह था इसने अपनी बहन का विवाह इब्राहीम आदिल शाह (बीजा-पुर) के साथ किया। जिससे बीजापुर और गोलकुण्डा के घराने का सम्बन्ध हो गया। उसकी प्रेयसी 'भागमती' नाम की एक हिन्दू रानी थी। इसी प्रकार और हिंन्दू राजाओं के यहाँ हिन्दू रानियाँ थीं। जिस प्रकार मुसल-मान फ़ौजियों और हिन्दू दुकानदारों के सम्पर्क से बाजारों में एक मिली-जुली भाषा बन रही थी उसी प्रकार शाही घरानों में इन सम्बन्धों के कारण एक सम्मिलित भाषा का विकास हो रहा था। *क़ुली क़ुतुब शाह* पहला उर्दू कवि है जिसकी कविताओं का संग्रह उर्दू भाषा में मिलता है और जिसे साहित्यिक भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के संग्रह को 'दीवान' कहते हैं। ग़जलों का 'दीवान' अक्षरों के क्रम से बनाया जाता है। यह बात उर्दू वालों ने फ़ारसी से ली है। फ़ारसी के कविगण अपने 'दीवान' अपनी भाषा के अक्षरों के क्रम के अनुसार लिखते थे। इसमें एक बड़ा दोष यह है कि यह पता नहीं लगता है कि कौन कविता कब लिखी गई। परन्तु यह प्राचीन प्रणाली उर्दू ग़ज़लों के संग्रह में अब तक चली आती है। कुछ नवीन कवियों ने इस प्रथा को तोड़ा है।

सुलतान मुहम्मद क़ुतुबशाह जहाँगीर का समकालीन था। उस समय की भाषा का नमूना यह है :

सखी तू हर घड़ी मुझ पर न कर ग़ैज़,
मुहब्बत पर नज़र रख कर बसर ग़ैज़।

अब्दुल्ला क़ुतुबशाह शाहजहाँ का समकालीन था, जिसको औरंगजेब

ने हराया। इसकी कविता का नमूना यह है :

तेरी पेशानी पर टीका झमकता,
तमाशा है उजाले में उजाला।

क़ुतुबशाही राज्य का अन्तिम बादशाह *अबुलहसन क़ुतुबशाह*, औरंगजेब का समकालीन था। यह तानाशाह के नाम से विख्यात है और इसकी 'रंगरलियाँ' कहानियों के नाम से प्रचलित हैं। औरंगजेब ने शिवाजी के देहान्त के बाद इसको परास्त करके क़ैद कर लिया था।

यह तो गोलकुण्डा के राजाओं का हाल हुआ। बीजापुर के भी दो बादशाह अच्छे साहित्यिक थे। इब्राहीम आदिलशाह अकबर का समकालीन था और अली आदिलशाह औरंगजेब का। इब्राहीम आदिलशाह संगीत-शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था और उसने 'ध्रुपद' नाम की एक पुस्तक लिखी। अली आदिलशाह को शिवाजी ने परास्त किया था। गोलकुण्डा और बीजापुर के उस समय के कवियों में से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं—

तहशीन उद्दीन ने 'काम रूपकला' नाम की एक मसनवी अथवा कहानी-काव्य लिखा। गार्सां द तासी ने जब उसे जर्मन भाषा में प्रकाशित किया तो सर्व प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने बहुत पसन्द किया।

'मुल्ला क़ुतुबी' ने 'तुहफतुन न सायह' नाम की कविता लिखी, जो कसीदे के रूप में है। *तबई* ने 'बहराम गुलनदाम' लिखा। *रश्मी* ने 'खावरनामा' नाम की पुस्तक का अनुवाद फ़ारसी से उर्दू में किया।

नुसरती दक्षिण में औरंगजेब के समय में सबसे बड़ा कवि हुआ है। इसको अली आदिलशाह के दरबार से 'मलकुशुअरा' अथवा महाकवि की उपाधि मिली। इसने औरंगजेब की प्रशंसा में और शिवाजी के विरुद्ध कई कविताएँ लिखीं। इसके कई संग्रह मिलते हैं। 'अलीनामा' अली आदिलशाह की जीवनी है। 'गुलशने इश्क' मसनवी है, 'गुलदस्तये इश्क' भी मसनवी है।

हाशमी एक अन्धा कवि था, जिसकी कविता में हिन्दी भाषा का रंग

बहुत है। उर्दू भाषा में प्रेम पुरुष की ओर से प्रकट किया जाता है, परन्तु इसने हिन्दी का अनुकरण करते हुए स्त्री की ओर से प्रेम प्रकट किया है।

दौलत नाम के कवि ने शाह बहराम की कहानी कविता में लिखी। *शाह मलिक* की कविता 'अद का मुएसलवान' इस्लाम धर्म के सम्बन्ध में है। *शाह अमीन* की कविता 'जवाहरुल असरात' भी एक धार्मिक ग्रन्थ है। 'सब रस' नाम का गद्य-लेख *मौलाना वजदी* का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसे उर्दू का प्रथम साहित्यिक गद्य-ग्रन्थ माना जाता है। *इब्न नशाली* ने 'फूलबन' नाम की मसनवी लिखी और *गौवासी* ने 'सहफुल मुलूक' मसनवी लिखी। इन्हींकी एक मसनवी 'तूतीनामा' भी है। *मुहम्मदअली आजिज* ने औरंगजेब के समय में 'नालोग़ौहर' नाम की कहानी लिखी।

बहरी ने मसनवी 'मन लगन' और *अमीन* ने 'यूसुफ जुलेखा' तथा वजदी ने 'पंछीनामा' लिखा, जो फ़ारसी की एक कविता का अनुवाद है।

उत्तर और दक्षिण के बीच की कड़ी—वली

जैसे मुहम्मद तुग़लक और अकबर के समय में दक्षिण और उत्तर भारत का सम्बन्ध हुआ था वैसे ही एक नया रूप औरंगजेब के राज्य में हुआ। औरंगजेब ने जब दक्षिण पर चढ़ाई की तो वहाँ के मुसलमान बादशाहों ने शिवाजी का साथ दिया। वह मुस्लिम राजा शिया थे। औरंगजेब जिस प्रकार हिन्दुओं को काफ़िर समझता था उसी प्रकार शिया मुसलमानों को पतित मानता था। औरंगजेब के राज्य के अन्तिम वर्ष दक्षिण को दबाने ही में लगे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि औरंगजेब के सैनिकों में से कुछ तो दक्षिण और उत्तर में आते-जाते रहे और कुछ दक्षिण में ही बस गए। इसका प्रभाव (जैसा कि स्वाभाविक भी था) भाषा पर भी पड़ा। दक्षिण में 'हिन्दी' या 'हिन्दुवी' भाषा की जो नवीन शैली प्रचलित थी और जो यदा-कदा 'दक्षिणी' नाम से भी सम्बोधित होती थी उसकी कुछ और भी प्रगति हुई। औरंगजेब के नाम पर दक्षिण में औरंगाबाद बसा और उस नगर में इस

नवीन भाषा के अनेक कवि हुए। इन्हींमें 'वली' औरंगाबादी भी थे, जिनको मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आबे हयात' में 'वली दक्षिणी' लिखा है और उन्हें उर्दू-कविता का सर्व प्रथम 'साहबे दीवान' बताया है। नई खोज से पता चला है कि 'वली' से पहले भी ऐसे उर्दू-कवि हो चुके थे जिनकी कविताओं या ग़ज़लों का संग्रह 'दीवान' के रूप में था।

वास्तव में वली नाम के दो कवि थे, जिनमें से एक मुहम्मद वली नाम का था और दूसरे का नाम था शम्सुद्दीन। 'वली' औरंगाबादी को उर्दू के आजकल के रूप का प्रथम कवि कहना ही ठीक होगा। इनका जन्म सन् १६३८ ई० में और देहान्त १७४४ ई० में हुआ। इस बारे में मतभेद है कि औरंगजेब के राज्य में वली दिल्ली में आये या नहीं, परन्तु यह प्रसिद्ध है कि मुहम्मद शाह रंगीले के समय में वह दिल्ली आये और बादशाह ने उनकी कविता को बहुत पसन्द किया। यही नहीं बल्कि दिल्ली के कवियों पर भी उनका बहुत प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि दिल्ली के सूफ़ी कवि 'सादुल्ला गुलशन' से भी 'वली' मिले थे, और 'गुलशन' ने ही उनको यह सलाह दी थी कि वे फ़ारसी की शैली को छोड़कर इस देश की शैली को अपनायें। जो कुछ भी हो, 'वली' ने उर्दू-कविता में एक ऐसी नवीन शैली का सृजन किया कि जो थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ आज भी चल रही है। 'वली' की कविताओं में ग़ज़ल तो मिलती ही है, जो शृङ्गार रस की कविता होती है। इसके अतिरिक्त कई क़सीदे भी लिखे हैं, जो मुहम्मद शाह और दक्षिण के राजाओं की प्रशंसा में हैं। मसनवियाँ भी लिखी हैं, जो काव्य-कहानियाँ हैं; और 'रुबाइयाँ' भी—जिनको चौपदे ही कहना उचित होगा। वली के मित्रों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। लाला खेमदास भी और मुहम्मद यारखाँ भी; अमृतलाल भी और अबुलमाअली भी; गौहरलाल भी और सादुल्ला गुलशन भी। इन्होंने जहाँ दिल्ली की प्रशंसा की है वहाँ सूरत शहर को भी सराहा है। इनके जन्म से कोई पचास वर्ष पहले सूरत बस चुका था। भारत में अंग्रेजों का यह सबसे पहला अड्डा

था। वली जब सूरत की सुन्दरता को सराहते हैं तो उससे पता चलता है कि अंग्रेजों की बस्ती वहाँ काफ़ी हो चुकी थी। दिल्ली के राज-दरबार की भी उन्होंने प्रशंसा की है। यह एक कवि की प्रशंसा है। सच पूछिये तो मुहम्मदशाह रंगीले के राज्य में मुग़ल-साम्राज्य की कीलें ढीली पड़ चुकी थीं। परन्तु जब वली दिल्ली आए थे उस समय तक नादिरशाह या अहमद-शाह अब्दाली ने दिल्ली पर आक्रमण नहीं किया था। इसलिए दिल्ली में बहुत चहल-पहल थी। दूर-दूर के प्रान्तों में विद्रोह हो रहे थे परन्तु दिल्ली गुलज़ार थी। वली से पहले उर्दू के कवियों को 'यमक' और 'अनुप्रास' आदि का बड़ा शौक़ था, परन्तु वली ने कविता के भावों पर अधिक बल दिया और इन चोचलों में नहीं पड़े। दिल्ली की शैली 'वली' से बनी, परन्तु ऐसा लगता है कि लखनऊ में जाकर (जिसकी व्याख्या हम आगे करेंगे) कविता में फिर एक बार अलंकार का ज़ोर हुआ और भावों की अपेक्षा भाषा पर अथवा शब्दों के शृङ्गार पर अधिक बल दिया जाने लगा।

कहा जाता है कि 'वली' बंगाल भी गए थे, परन्तु यह एक किंवदन्ती ही है। 'वली' फ़ारसी और हिन्दी के भी कवि थे।

दिल्ली में

'वली' तो दिल्ली से दक्षिण चले गए, परन्तु दिल्ली में उर्दू-कविता की जो लहर आई वह बढ़ती ही चली गई। यह सच है कि दरबार का सारा कारोबार फ़ारसी भाषा में होता था, परन्तु बोल-चाल की भाषा उर्दू ही थी। मुहम्मद शाह रंगीले का दरबार नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात् भी होता रहा। नाच-रङ्ग और गाने-बजाने के साथ, कवियों की भी धूम-धाम थी।

जब हम कविता का विकास कहते हैं तो उसका तात्पर्य यह नहीं है कि कविता का भाव बहुत ऊँचा हो गया था; बल्कि उर्दू भाषा का विकास हुआ था। राज-दरबार के अतिरिक्त सूफ़ी कवियों की भी एक श्रेणी थी, जैसे मिर्ज़ा मज़हर जान जाना। यह कवि राज-दरबार में तो नहीं जाते थे परन्तु जन-

साधारण में उनकी प्रतिष्ठा बहुत थी ! मिर्ज़ा मजहर जान जाना के समकालीन कवियों में 'आवरू' और 'हातिम' भी उल्लेखनीय हैं। यहाँ उर्दू-कविता के विकास के सम्बन्ध में हमें कुछ बातें जान लेनी चाहिएँ। राज-दरबार की कविता का और रङ्ग था और सूफ़ी कवियों का दूसरा; फिर भी प्रेम-काव्य और शृङ्गार रस दोनों के यहाँ प्रधान था। उर्दू-कविता में प्रेम के दो रूप माने जाते हैं, एक 'हक़ीक़ी' और दूसरा 'मजाज़ी'। 'हक़ीक़ी' कविता वह है जिसमें परमात्मा या किसी आराध्य देव से प्रेम प्रकट किया जाय, और 'मजाज़ी' कविता में किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम प्रकट किया जाता है। हिन्दी-कविताओं में संस्कृत से यह प्रथा आई है कि स्त्री पुरुष से प्रेम प्रकट करती है। अरबी की कविता में पुरुष स्त्री से प्रेम प्रकट करता है परन्तु उर्दू भाषा में फ़ारसी का अनुकरण करते हुए पुरुष का प्रेम पुरुष के प्रति प्रकट किया जाता है। कोई-कोई ऐसा भी रहता है कि प्रेयसी होती स्त्री ही है, परन्तु क्रियाओं का रूप पुल्लिंग में होता है। ख्वाजा अलताफ हुसेन 'हाली' ने अपने दीवान की भूमिका में इसका विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। सच बात तो यह है कि दोनों ही प्रकार की कविता उर्दू में मिलती है। कहीं 'दुपट्टे' का वर्णन है, तो कहीं 'सब्जये खत' का। इसका एक-मात्र कारण यह है कि उर्दू पर संस्कृत, अरबी और फ़ारसी तीनों ही का प्रभाव पड़ा, फिर भी अधिकतर प्रभाव फ़ारसी का था। विषयान्तर होने के भय से हम यहाँ मध्यकालीन हिन्दी-कवियों के भक्ति रस के काव्य का वर्णन नहीं करना चाहते। परन्तु इतिहास के बहुत-से विशेषज्ञों का यह मत है कि राम और कृष्ण का जो रूप आज हमें चित्रों में मिलता है वह भी बहुत-कुछ सूफ़ियों का प्रभाव है। अरबी भाषा में एक शब्द 'इमूद' आया है, जो 'किशोर' आयु के उन नवयुवकों के लिए है जिनके दाढ़ी-मूँछ न हों। फ़ारसी की कविता में ऐसे बालकों से प्रेम का बहुत उल्लेख है। उर्दू में यह शैली फ़ारसी से आई और भली भाँति रच गई। स्वयं मिर्ज़ा मजहर जान जाना, जो कवि होने के अतिरिक्त एक प्रसिद्ध सूफ़ी भी थे, 'इमूद-परस्त' कहे जाते थे, अर्थात् वे ऐसे बालकों से प्रेम करते थे। जब मीर तक़ी 'मीर'-जैसे

कवि ने यह लिखा कि

उसी अत्तार के लौंडे से दवा लेते हैं

तो औरों का कहना ही क्या? एक शब्द 'मुग़बचा' भी आता है। 'मुग़' शराब बेचने वाली एक जाति थी। उनके जो लड़के प्यालों में भर-भरकर शराब बेचते थे वह 'मुग़बच्चे' कहलाते थे और मधुशाला का प्रबन्धक 'पीरे मुग़ाँ' अथवा मुग़ों में वयोवृद्ध कहलाता था। अधिकतर उर्दू-कविता में यही प्रेम, मद-पान, नाच-रंग इत्यादि पाया जाता था। कभी-कभी 'मुग़-बच्चों' से बढ़कर 'पिसरे तुर्क' और 'बिरहमन पिसर' अथवा ब्राह्मण के पुत्र तक नौबत आ जाती थी। इस्लाम कुछ भी कहता हो परन्तु कवि महाशय उस ब्राह्मण के पुत्र के गोरे मुख के लाल टीके पर रीझ जाते हैं।

अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध

सन् १७५७ में प्लासी की लड़ाई में अंग्रेजों की जीत तो हो ही चुकी थी। १७६१ में अहमदशाह अब्दाली (जिसको दुर्रानी भी कहते हैं) के आक्रमण से भारत में मुग़ल-राज्य की जड़ें हिल गईं। परन्तु मुहम्मद शाह रंगीले का दरबार फिर भी जारी रहा और कवियों की संख्या बढ़ती रही। मुहम्मद शाह के बाद शाह आलम के राज्य का समय लम्बा-चौड़ा था, जिसमें मुग़लों पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे। एक ओर तो सेना-नायकों का विद्रोह, दूसरी ओर अंग्रेजों की चालें, तीसरी ओर मरहठों के आक्रमण और चौथी ओर पठानों के हल्ले। फिर भी उर्दू-कविता का विकास होता रहा। स्वयं शाह आलम तो फ़ारसी का कवि था, परन्तु उसके दरबार में उर्दू-कवियों का मान-दान बहुत था। ग़ुलाम क़ादिर रोहल्ला ने जब बूढ़े बादशाह की आँखें निकलवा लीं तो उसके बाद भी वह कविताएँ सुनता और कवियों को पुरस्कार देता रहा। परन्तु जब दिल्ली पर चारों ओर से आक्रमण होने लगे तो उर्दू-कवि भी भाग निकले। उस समय लखनऊ में नवाब आसफ़ुद्दौला का राज्य था। उसके दरबार में कवियों, गवैयों, चित्रकारों और हर प्रकार के कलाकारों की बड़ी आवभगत थी। इसका

उल्लेख तो हम आगे करेंगे; परन्तु यहाँ उस समय के दिल्ली के कुछ प्रसिद्ध कवियों का वर्णन किया जाता है—

मीर तक़ी 'मीर' का जन्म तो अकबराबाद (आगरा) में हुआ था। परन्तु उनकी कविता का क्षेत्र मुख्यतः दिल्ली ही था। आज भी उर्दू के साहित्यज्ञों में ऐसे बहुत-से व्यक्ति हैं, जो 'मीर' को उर्दू का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। 'मीर के बहत्तर नश्तर' कहे जाते हैं। यह नश्तर उनके बहत्तर शैर हैं। इस बारे में तो मतभेद है कि ये बहत्तर शैर कौन-से हैं, क्योंकि 'मीर' ने बहुत-कुछ कहा है और उनके दीवान से बहत्तर शैर चुनना कोई हँसी-खेल नहीं; फिर भी उनके चुने हुए शैरों के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :

दिल से उठता है, जाँ से उठता है,
यह धुआँ-सा कहाँ से उठता है।

उलटी हो गईं सब तदबीरें, कुछ न दवा ने काम किया,
देखा इस बीमारिये दिल ने, आख़िर काम तमाम किया।
नाहक़ हम मजबूरों पर यह तोहमत है मुख़्तारी की,
चाहते हैं सो आप करे हैं, हमको अबस बदनाम किया।

सिरहाने मीर के आहिस्ता बोलो,
अभी टुक रोते-रोते सो गया है!
हवादिस और थे पर दिल का जाना,
अजब एक सानिहा-सा हो गया।
मीर अब तक मज़ारे मजनूँ से,
नातवाँ-सा ग़ुबार उठता है।

सौदा—मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' मीर तक़ी 'मीर' के समकालीन थे, परन्तु इनकी कविता की शैली 'मीर' से पृथक् थी। कहने वालों ने बहुत संक्षेप में 'मीर' और 'सौदा' की कविता का भेद इस प्रकार कहा है कि मीर का कलाम 'आह' है और सौदा का कलाम 'वाह' है।

'सौदा' की कविता में चमत्कार तो बहुत है, परन्तु वह दर्द नहीं पाया

जाता जो 'मीर' के यहाँ मिलता है। 'सौदा' ने ग़जल कम कहीं—अधिकतर क़सीदे कहे हैं, जो किसी की प्रशंसा या अभिमान में लम्बी कविताएँ हैं। इनकी कविता में अलंकार 'मीर' से अधिक हैं। 'सौदा' जिससे बिगड़ते थे उसीके अपमान में कविता लिख देते थे। 'गुञ्चा' इनका नौकर था। जब किसी से रुष्ट होते तो कहते कि "गुञ्चा, ला तो मेरा क़लम-दवात, इसने मुझे समझा क्या है?"

'सौदा' जब कठिन कहने पर आते हैं तो इस प्रकार :

उठ गया बहमनो दय का चमनिस्ताँ से अमल
तेग़े उर्दी ने किया मुल्क़े खिज़ाँ मस्तासल।

और जब सरल कहते हैं, तो इस प्रकार :

"लड़की वो जो लड़कियों में खेले
न कि लड़कों में जाके दंड पेले!

कहते हैं कि इनको किसी बरात में जाना था, किसी रईस से एक घोड़ा माँगा। उसने कोई बूढ़ा-सा घोड़ा दे दिया। इस पर 'सौदा' ने जो कविता लिखी है वह बहुत प्रसिद्ध है। उसका एक शैर यहाँ दिया जाता है :

अज़ बस के हिनहिनाने की ताक़त नहीं रही,
घोड़ी को देख-देख के पादे है बार-बार।

'सौदा' को जब आसफ़ुद्दौला ने लखनऊ बुलाया तो उन्होंने यह लिखकर भेज दिया :

सौदा पये दुनिया, तू बहर सू कब तक
आवारा अज़ीं कूचा बआँ कू कब तक
गर यह भी हुआ तो नौजवानी है मुहाल
बिलफ़र्ज़ हुआ यह भी तो फिर तू कब तक

परन्तु समय के फेर से इन्हें अपनी अन्तिम आयु में लखनऊ जाना ही पड़ा।

दर्द—उस समय के कवियों की त्रिमूर्ति में 'सौदा' और 'मीर' के बाद 'दर्द' का नाम आता है। इनका पूरा नाम ख्वाजा मीर 'दर्द' था। यह एक

सूफ़ी संत थे। इनकी कविता का नमूना यह है :

तोहमतें चंद अपने ज़ुम्मे धर चले,
आये क्या करने को और क्या कर चले।
ज़िन्दगी है या कोई तूफ़ान है,
हम तो इस जीने के हाथों मर चले।
साक़िया याँ लग रहा है चल-चलाव,
जब तलक बस चल सके साग़र चले।
वाए नादानी कि वक़्ते मर्ग यह साबित हुआ,
ख्वाब था जो कुछ के देखा, जो सुना अफ़साना था।

कहते हैं कि इनकी दरगाह में एक रोज बादशाह पाँव फैलाकर बैठ गए थे। इन्होंने कहा यह अदब की महफ़िल है। बादशाह ने कहा कि मेरे पाँव में दर्द है, इन्होंने फिर जवाब दिया कि ऐसी सूरत में तक़लीफ़ करने की जरूरत नहीं।

सार्वजनिक कवि 'नज़ीर' अकबराबादी

दिल्ली और लखनऊ की उर्दू-कविता की चर्चा करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उर्दू का सार्वजनिक कवि नज़ीर अकबराबाद (आगरा) में जन्मा था। नज़ीर ने ६४ वर्ष की आयु पाई। यदि एक ओर वे 'मीर' और 'सौदा' के समकालीन थे तो दूसरी ओर इन्शा और मुसहफ़ी के। इनकी कविता की शैली लखनऊ और दिल्ली दोनों से पृथक् थी। सच तो यह है कि उर्दू भाषा में यही एक ऐसे कवि हुए हैं जिनको सार्वजनिक कवि कहा जा सकता है। नज़ीर बहुत बड़े विद्वान् नहीं थे परन्तु उनके भाव हार्दिक होते थे। उनकी कविता में कहीं-कहीं पिंगल और तुकों के दोष मिलते हैं। शब्दों की अशुद्धि भी मिलती है,परन्तु यह प्रायः सभी भाषाओं के सार्वजनिक कवियों का हाल है। अंग्रेजी भाषा के सर्वप्रसिद्ध कवि विलियम शेक्सपियर के यहाँ भी बहुत-सी त्रुटियाँ मिलती हैं। परन्तु आज शेक्सपीरियन इंगलिश एक पृथक् शैली बन गई है। मिल्टन शेक्सपियर से अधिक विद्वान् था,

परन्तु वह सार्वजनिक नहीं एक वर्गीय कवि था। उसकी कविता मस्तिष्क की है, शेक्सपियर की कविता हृदय की है। मिल्टन के यहाँ कृत्रिमता है, परन्तु शेक्सपियर सार्वजनिक भाषा में अपने भाव प्रकट करता है। नज़ीर अकबराबादी को उर्दू-कविता के नवीन आलोचकों ने इसी कारण से 'उर्दू का शेक्सपियर' कहा जाता है।

नज़ीर ने कविताएँ कैसे लिखीं, यह भी बहुत मनोरंजक बात है। वे किसी राज-दरबार में सुनाने या नाम पाने के लिए कविता नहीं लिखते थे। अधिकतर कविताएँ उन्होंने बच्चों के लिए लिखी हैं। एक छोटी-सी घोड़ी पर सवार होकर वे बच्चों को पढ़ाने जाया करते थे। राह में भी कभी-कभी बच्चे उनकी घोड़ी को रोक लेते और कहते **मौलवी साहब एक कविता तो लिखे जाइए**। मौलवी साहब वहीं चबूतरे पर बैठकर कविता लिख देते। यह कविताएँ, जो चौपालों और चबूतरों पर बैठकर लिखी गईं, उर्दू भाषा में अमर हैं। आज भी हम लोगों को गाते या कहते सुनते हैं :

टुक हिरसो हवा को छोड़ मियाँ, क्यों देस-बिदेस फिरे मारा।
क़ज़्ज़ाक़ अजल का लूटे है, दिन-रात बजाकर नक़्क़ारा।
सब ठाठ पड़ा रह जायेगा
जब लाद चलेगा बन्जारा।

इस महान् कवि का हृदय इतना विशाल था कि इन्होंने हज़रत मुहम्मद की नात[1] भी लिखीं और कन्हैया का बालपन भी। गुरु नानक को भी सराहा और महादेव का ब्याह भी लिखा। हमने स्वयं 'बज़्म' अकबराबादी से यह बात सुनी कि उर्दू-भाषा में बाल्य-काल के सम्बन्ध में कोई ऐसी कविता नहीं है जैसी नज़ीर अकबराबादी का 'कृष्ण कन्हैया का बालपन' है। जो यों आरम्भ होती है :

क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।

---

१. मुहम्मद साहब की प्रशंसा में लिखी कविता को 'नात' कहते हैं।

यही नहीं शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म और वर्षा आदि प्रकृति के प्रायः सभी रूपों के सम्बन्ध में उन्होंने कविताएँ लिखीं। हिन्दुओं के त्यौहार होली, दीवाली, मुसलमानों के त्यौहार ईद और शबे रात उनके यहाँ सभी पाए जाते हैं। फिर बच्चों के लिए 'रीछ का बच्चा' और 'गिलहरी का बच्चा'-जैसी कविताएँ भी मिलती हैं।

नजीर का अनुकरण करने वाला उर्दू-भाषा में कोई कवि नहीं हुआ और किसी भी भाषा में ऐसे कवियों के अनुकरण करने वाले बहुत कम होते हैं। अंग्रेजी में न कोई और शेक्सपियर पैदा हुआ और न संस्कृत में कोई और कालिदास। फ़ारसी में शेखसादी की शैली किसी और को नसीब नहीं हुई। हिंदी में कबीर-जैसा भाव और भाषा लिखने वाला और कौन हो सकता था। परन्तु दुःख की बात यह है कि दिल्ली और लखनऊ के झगड़े में नजीर को उर्दू-साहित्य में वह स्थान नहीं मिला जिसके वह योग्य थे। वह तो कहिये कि मौलाना मुहम्मद अली ने अब से कोई ४० वर्ष पहले नजीर के नाम को उजागर किया और जब से उन्हें साहित्य में एक स्थान मिला; नहीं तो भिखारी घर-घर उनके गीत गाते फिरते थे, जन-साधारण में उनकी कविताएँ दुहराई जाती थीं, परन्तु साहित्य की पुस्तकों में उनको 'मीर' और 'सौदा' के साथ कोई जगह देने को तैयार नहीं था। बात यह है कि उर्दू-कविता में जितना ओज है उतना फैलाव नहीं। यह एक ऐसा विषय है जिसके लिए इस छोटी-सी पुस्तिका में जगह नहीं मिल सकती।

नजीर अकबराबादी ने ६४ वर्ष की आयु पाई। कवियों की मण्डली में उनका स्थान नहीं था, किन्तु अनपढ़ जनता और बच्चों के हृदय के वे सम्राट् थे, और वे इसी में प्रसन्न थे। उनकी कविताओं का संग्रह भी बाद में बड़ी कठिनाई से किया गया।

लखनऊ में

यह पहले ही कहा जा चुका है कि दिल्ली में उथल-पुथल होने से वहाँ के बहुत-से कवि लखनऊ चले गए थे। 'सौदा' और 'मीर' भी लखनऊ

परन्तु वह सार्वजनिक नहीं एक वर्गीय कवि था। उसकी कविता मस्तिष्क की है, शेक्सपियर की कविता हृदय की है। मिल्टन के यहाँ कृत्रिमता है, परन्तु शेक्सपियर सार्वजनिक भाषा में अपने भाव प्रकट करता है। नज़ीर अकबराबादी को उर्दू-कविता के नवीन आलोचकों ने इसी कारण से 'उर्दू का शेक्सपियर' कहा जाता है।

नज़ीर ने कविताएँ कैसे लिखीं, यह भी बहुत मनोरंजक बात है। वे किसी राज-दरबार में सुनाने या नाम पाने के लिए कविता नहीं लिखते थे। अधिकतर कविताएँ उन्होंने बच्चों के लिए लिखी हैं। एक छोटी-सी घोड़ी पर सवार होकर वे बच्चों को पढ़ाने जाया करते थे। राह में भी कभी-कभी बच्चे उनकी घोड़ी को रोक लेते और कहते **मौलवी साहब एक कविता तो लिखे जाइए**। मौलवी साहब वहीं चबूतरे पर बैठकर कविता लिख देते। यह कविताएँ, जो चौपालों और चबूतरों पर बैठकर लिखी गईं, उर्दू भाषा में अमर हैं। आज भी हम लोगों को गाते या कहते सुनते हैं:

टुक हिरसो हवा को छोड़ मियाँ, क्यों देस-बिदेस फिरे मारा।
क़ज़्ज़ाक़ अजल का लूटे है, दिन-रात बजाकर नक़्क़ारा।
सब ठाठ पड़ा रह जायेगा
जब लाद चलेगा बन्जारा।

इस महान् कवि का हृदय इतना विशाल था कि इन्होंने हजरत मुहम्मद की नात[1] भी लिखीं और कन्हैया का बालपन भी। गुरु नानक को भी सराहा और महादेव का ब्याह भी लिखा। हमने स्वयं 'बज़्म' अकबराबादी से यह बात सुनी कि उर्दू-भाषा में बाल्य-काल के सम्बन्ध में कोई ऐसी कविता नहीं है जैसी नज़ीर अकबराबादी का 'कृष्ण कन्हैया का बालपन' है। जो यों आरम्भ होती है:

क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।

---

१. मुहम्मद साहब की प्रशंसा में लिखी कविता को 'नात' कहते हैं।

यही नहीं शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा आदि प्रकृति के प्रायः सभी रूपों के सम्बन्ध में उन्होंने कविताएँ लिखीं। हिन्दुओं के त्यौहार होली, दीवाली, मुसलमानों के त्यौहार ईद और शबे रात उनके यहाँ सभी पाए जाते हैं। फिर बच्चों के लिए 'रीछ का बच्चा' और 'गिलहरी का बच्चा'-जैसी कविताएँ भी मिलती हैं।

नज़ीर का अनुकरण करने वाला उर्दू-भाषा में कोई कवि नहीं हुआ और किसी भी भाषा में ऐसे कवियों के अनुकरण करने वाले बहुत कम होते हैं। अंग्रेजी में न कोई और शेक्सपियर पैदा हुआ और न संस्कृत में कोई और कालिदास। फ़ारसी में शेखसादी की शैली किसी और को नसीब नहीं हुई। हिंदी में कबीर-जैसा भाव और भाषा लिखने वाला और कौन हो सकता था। परन्तु दुःख की बात यह है कि दिल्ली और लखनऊ के झगड़े में नज़ीर को उर्दू-साहित्य में वह स्थान नहीं मिला जिसके वह योग्य थे। वह तो कहिये कि मौलाना मुहम्मद अली ने अब से कोई ४० वर्ष पहले नज़ीर के नाम को उजागर किया और जब से उन्हें साहित्य में एक स्थान मिला; नहीं तो भिखारी घर-घर उनके गीत गाते फिरते थे, जन-साधारण में उनकी कविताएँ दुहराई जाती थीं, परन्तु साहित्य की पुस्तकों में उनको 'मीर' और 'सौदा' के साथ कोई जगह देने को तैयार नहीं था। बात यह है कि उर्दू-कविता में जितना ओज है उतना फैलाव नहीं। यह एक ऐसा विषय है जिसके लिए इस छोटी-सी पुस्तिका में जगह नहीं मिल सकती।

नज़ीर अकबराबादी ने ९४ वर्ष की आयु पाई। कवियों की मण्डली में उनका स्थान नहीं था, किन्तु अनपढ़ जनता और बच्चों के हृदय के वे सम्राट् थे, और वे इसी में प्रसन्न थे। उनकी कविताओं का संग्रह भी बाद में बड़ी कठिनाई से किया गया।

लखनऊ में

यह पहले ही कहा जा चुका है कि दिल्ली में उथल-पुथल होने से यहाँ के बहुत-से कवि लखनऊ चले गए थे। 'सौदा' और 'मीर' भी लखनऊ

पहुँचे। यद्यपि 'सौदा' ने पहले नवाब साहब को लिख दिया था कि वे दिल्ली न छोड़ेंगे परन्तु समय के फेर से उनको भी जाना पड़ा। नवाब आसफ़ुद्दौला ने उनका स्वागत तो किया परन्तु इतना कह दिया कि मिर्ज़ा साहब आपकी वह रूबाई मुझे अब तक याद है। मीर साहब जब लखनऊ के एक मुशायरे (कवि-सम्मेलन) में ग़ज़ल पढ़ने गये तो सिर पर पगड़ी बाँधे और चौड़ी मोहरी का गरारेदार पायजामा पहने थे। कमर में पटका बँधा था। उस समय दिल्ली के उच्च वर्ग का यही वेश था। लखनऊ में दुपल्ली टोपी और चूड़ीदार पायजामे का रिवाज था। लखनऊ वाले मीर साहब को देखकर हँसे और जब 'शमा' (मोमबत्ती) मीर साहब के सामने गई तो कई-एक ने पूछा कि आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं। मीर साहब समझ गए कि वह उनका उपहास हो रहा है। तब उन्होंने ग़ज़ल पढ़ने से पहले यह तीन शैर पढ़े :

क्या बूदोबाश पूछो हो पूरब के साकिनो,
हमको ग़रीब जान के हँस-हँस पुकार के।
दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तख़ाब,
रहते थे मुन्तख़िब ही जहाँ रोज़गार के।
उसको फ़लक ने लूट के वीरान कर दिया,
हम रहने वाले हैं उसी उजड़े दयार के।

इस कविता से मीर साहब की धाक जम गई और उनकी ग़ज़ल बहुत ध्यान पूर्वक सुनी गई। कहते हैं कि एक दिन नवाब आसफ़ुद्दौला मछलियों का शिकार खेल रहे थे। मीर साहब भी साथ में थे। नवाब साहब ने कहा—मीर साहब कोई ग़ज़ल सुनाइए।

मीर साहब ने जवाब दिया—जनाब या मछलियाँ मार लीजिये या मेरी ग़ज़ल ही सुन लीजिए।

ऐसी एक बात 'सौदा' की भी प्रसिद्ध है। नवाब साहब ने 'सौदा' से कहा—आज कोई ग़ज़ल लिखी हो तो सुनाइए।

सौदा ने कहा—मैं तो कई-कई दिन में एक ग़ज़ल लिखता हूँ।

नवाब साहब ने हसकर कहा—मैं तो पाख़ाने में बैठे-बैठे ग़ज़ल लिख लेता हूँ।

सौदा ने जवाब दिया—हुजूर वू भी वैसी ही आई है।

आसफ़ुद्दौला किसी और के मुँह से तो ऐसी बात सुन नहीं सकते थे, परन्तु एक कलाकार की बात सुनकर वे चुप हो गए।

नवाब आसफ़ुद्दौला के उस्ताद (कविता के गुरु) 'सोज' भी बड़े अच्छे कवि थे। मीर तक़ी 'मीर' उर्दू के साढ़े तीन शायर मानते थे। एक अपने-आपको, दूसरे 'सौदा' को, तीसरे 'दर्द' को; और आधा कवि 'सोज' को। यह सत्य भी है कि 'सोज' की कविता उतनी उच्चकोटि की नहीं है जितनी इन तीनों कवियों की, फिर भी वह एक ऊँचे कवि थे। उनकी कविता का नमूना यह है :

शहद में जैसे मगस, हम हिर्स में पाबन्द हैं
वाय ग़फ़लत इस सियह ज़िन्दाँ में यू ख़ुर्सन्द हैं।
रिज़्क़ का ज़ामिन ख़ुदा शाहिद कलाम अल्लाह है,
तिस पे अपनी सूरतों से रोज़ हाजतमन्द हैं।
मक़बरों में जाके इन आँखों से हम देखे हैं रोज,
यह बिरादर यह पिदर, यह ख़्वेश, यह फ़रज़न्द हैं।
तिसपे रानाई से, ठोकर मारकर चलते हैं हम,
जानते इतना नहीं हम ख़ाक के पैवन्द हैं।
जब तलक आँखें खुली हैं दुख-पै-दुख देखेंगे हम,
मुँद गईं जब अँखड़ियाँ तब 'सोज़' सब आनन्द हैं।

कहते हैं कि 'सोज' पढ़ते बहुत अच्छा थे, उन्होंने इसका अभ्यास बड़े परिश्रम से किया था। वे दर्पण सामने रखकर अपनी भौंहों और आँखों को इस प्रकार हिलाते थे कि कविता की भावना उससे प्रकट हो जाय।

यह सब कवि बूढ़े हो चुके थे। एक-एक करके सब परलोक सिधार गए। इनके पीछे 'मुसहफ़ी' और 'इन्शा' का समय आया। मुसहफ़ी अमरोहा के थे और 'इन्शा' दिल्ली के। लखनऊ में रंगरलियाँ तो हो ही रही

थीं, इन कवियों में खूब फक्कड़बाजी हुई। एक-दूसरे पर फब्तियाँ कसते थे और स्वाँग भी भरे जाते थे। एक स्वाँग में एक भाँड को मुसहफ़ी बनाया गया और दूसरे ने स्त्री का रूप धारण किया। यह स्त्री पुरुष को जूतों से पीट रही थी और इन्शा का यह शेर पढ़ा जा रहा था :

स्वाँग नया लाया है, भरके यह चरख़े कुहन।
लड़ते हुए आये हैं, मुशहफ़ी और मुशहफ़न॥

मुसहफ़ी नवाब साहब के यहाँ पहले से नौकर थे, परन्तु इनका वेतन कम था। इन्शा का वेतन ४०)रु० मासिक तय हुआ था तो मुसहफ़ी ने यह शेर लिखा :

एक मर्दे मुअम्मर तो है दस बीस के क़ाबिल।
चालीस बरस वाला है, चालीस के क़ाबिल।

इस पर नवाब साहब ने उनका वेतन बढ़ा दिया।

यह कहना कठिन है कि मुसहफ़ी और इन्शा में बड़ा कवि कौन था। बात यह है कि ग़ज़ल तो मुसहफ़ी अच्छी लिखते थे, परन्तु हास्य रस में कविता करने और साहित्यज्ञ होने के नाते सैयद इन्शा का स्थान अधिक ऊँचा है।

सैयद इन्शा का अन्त बहुत बुरा हुआ। उन्होंने अंग्रेज रेजीडेण्ट का कुछ अपमान कर दिया था जिससे नवाब साहब ने उनको दरबार से निकाल दिया। जीवन में कुछ बचाया तो था ही नहीं, आखिर यह पागल होकर मर गए। इनकी अन्तिम ग़ज़ल, जिसमें इनके हार्दिक उद्गार मिलते हैं, यह है :

कमर बाँधे हुए चलने को याँ सब यार बैठे हैं,
बहुत आगे गये बाक़ी जो हैं तैयार बैठे हैं।
न छेड़ ऐ निकहते बादे बहारी, राह लग अपनी,
तुझे अठखेलियाँ सूझी हैं हम बेज़ार बैठे हैं।
नजीबों का अजब कुछ हाल है, इस दौर में यारो,
जहाँ देखो यही कहते हैं हम बेकार बैठे हैं।

कहाँ सबरो तहम्मुल आह नंगोनाम क्या शै है,
यियाँ रो-पीटकर इन सबको हम एक बार बैठे हैं।
भला गर्दिश फ़लक की, चैन देती है किसे इन्शा,
ग़नीमत है कि हमसोहबत यहाँ दो-चार बैठे हैं।

यहाँ एक अन्धे कवि 'जुरअत' का भी वर्णन कर देना चाहिए, जो सैयद इन्शा के साथी थे और ग़ज़ल बहुत अच्छी कहते थे। यह भी दिल्ली से लखनऊ गए थे। यह सैयद इन्शा के मित्र थे। दोनों में चोटें भी खूब चलती थीं। कहते हैं कि एक दिन जब सैयद इन्शा उनके पास पहुँचे तो उन्होंने एक मिसरा लिख रखा था कि :

ज़ुल्फ़ों पे जो फबती शबे दैजूर की सूझी

इन्शा से कहा कि भाई इस पर दूसरा मिसरा नहीं लगता। इन्शा ने दूसरा मिसरा कहा :

अन्धे को अन्धेरे में बहुत दूर की सूझी।

जुरअत ने टटोलकर लाठी उठाई और भाग लिये।

लखनऊ में ग़ज़ल के विकास का श्रेय तो मुसहफ़ी को है। परन्तु इन्शा ने हास्य रस का एक नया ढंग ही नहीं निकाला एवं उर्दू भाषा का पहला व्याकरण भी लिखा, छन्द-ग्रन्थ लिखा और पचास पृष्ठ की 'रानी केतकी की कहानी' भी लिखी; जिसे उर्दू वाले उर्दू और हिन्दी वाले हिन्दी कहते हैं। इस पचास पृष्ठों की पुस्तक में एक भी शब्द अरबी-फ़ारसी का नहीं आया। उर्दू और हिन्दी की नवीन गद्य-शैली का यह प्रथम ग्रन्थ है।

दिल्ली और लखनऊ में स्पर्धा

१६वीं शताब्दी के आरम्भ में अवध की राजधानी फ़ैज़ाबाद (अयोध्या) से हटाकर लखनऊ कर दी गई। यह वह समय था जब मीर हसन देहलवी ने अपनी मसनवी 'बद्र मुनीर' लिखी। यह भी एक साधारण-सी पुराने ढंग की एक कहानी है कि एक राजकुमार को परियाँ उठा ले जाती हैं और फिर एक परी से उसका विवाह हो जाता है। कहानी तो कुछ नहीं,

परन्तु मीर हसन की यह 'मसनवी' उर्दू में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। यदि इसका कोई जवाब है तो 'गुलजार नसीन', जो पण्डित दयाशंकर 'नशीन' की लिखी हुई मसनवी है। मीर हसन देहलवी जब फ़ैज़ाबाद से लखनऊ आये तो इनको लखनऊ पसन्द न आया और इन्होंने इस नगर का उपहास किया जिससे लखनऊ वाले इनके विरुद्ध हो गए, परन्तु इन्हीं मीर हसन की सन्तान ने लखनऊ में मर्सिये का इतना विकास किया कि उसीके कारण 'लखनऊ-स्कूल' अलग कहा जाने लगा। यह पढ़कर हँसी आती है कि इन्हीं मीर हसन की चौथी पीढ़ी के मीर अनीस अपने लखनवी होने पर गर्व करते हैं और कभी-कभी दिल्ली का उपहास भी करते हैं। कहते हैं कि मीर हसन ने तो यह शैर लिखा था :

सख़ावत एक अदना-सी उसकी ये है,
कि एक दिन दुशाले दिये सात सै।

यह आसफ़ुद्दौला की प्रशंसा में लिखा गया था। परन्तु कहते हैं कि आसफ़ुद्दौला ने सात सौ नहीं वरन् सात हजार दुशाले दान किये थे। इसलिए इस पंक्ति से वे कुछ रुष्ट हो गए थे। कुछ भी हो मीर हसन का स्थान आज भी उर्दू-साहित्य में बहुत ऊँचा है और उनकी मसनवी आज भी बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं; और यह शैर तो कई जगह गद्य-लेखों में भी दुहराया जाता है :

बरस पंद्रह या कि सोलह का सिन,
जवानी की रातें मुरादों के दिन।

मीर हसन के जवाब में पण्डित दयाशंकर 'नशीन' ने जो मसनवी लिखी उसमें अलंकार बहुत हैं। उपमाएँ भी मीर हसन से अधिक हैं। लखनऊ में ऐसे साहित्यज्ञ भी मिलते हैं जो इस मसनवी को मीर हसन की मसनवी से ऊँचा स्थान देते हैं। गुलजार नसीम की कहानी, जो 'गुल बकावली' के नाम से प्रसिद्ध है, वही पुराने ढंग की है। एक बादशाह के चार लड़के थे जब पाँचवाँ लड़का हुआ तो ज्योतिषियों ने कहा कि जब तक यह बारह वर्ष का न हो जाय तब तक इसे न देखिएगा। नहीं तो आप अन्धे हो जायँगे।

उस बालक को बादशाह की नज़रों से बचाकर रखा जाता था। होनहार की बात एक दिन :

आता था शिकारगाह से शाह।
नज़्ज़ारा किया पिसर का नागाह॥

बादशाह अन्धा हो गया। जब एक चिकित्सक ने कहा कि बकावली का फूल आँखों से लगाने से उसके नयनों की ज्योति आ सकती है, तो चारों शाहजादे फूल तोड़ने चले और यह पाँचवाँ राजकुमार भी उनके पीछे चल दिया। अन्त में यह चारों असफल रहे और यह राजकुमार अनेक कठिनाइयों के बाद फूल ले आता है। इस कहानी के बीच देव और परी तो हैं ही, परन्तु राजकुमार इन्द्रपुरी तक पहुँच जाता है। इस मसनवी की नमूने की पंक्तियाँ यह हैं :

पत्ता फल-फूल छाल लकड़ी।
उस पेड़ से लेके राह पकड़ी॥

बकावली अपने फूल के खोने पर कहती है :

हय-हय मेरा फूल ले गया कौन।
हय-हय मुझे दाग़ दे गया कौन॥
शबनम के सिवा चुराने वाला।
ऊपर से था कौन आने वाला॥

और अन्त इस प्रकार है :

जिस तरह उन्हें बहम में लाया।
बिछुड़े यों ही सब मिलें खुदाया॥

इन दोनों मसनवियों के सम्बन्ध में इस शताब्दी के आरम्भ में पण्डित ब्रजनारायण 'चकबस्त' और मौलवी अब्दुल हलीम 'शरर' में खूब नोंक-झोंक हुई। जिसे मुन्शी सज्जाद हुसेन अपने 'अवध पंच' में छापते रहे। स्वयं मुन्शी सज्जाद हुसेन मुन्शी 'चकबस्त' के साथ थे। मौलाना हसरत मोहानी ने दोनों पक्षों के बीच की राह निकाली। अन्त में नौबत यहाँ तक पहुँची कि नोक-झोंक से गाली-गलौज होने लगी। मुन्शी सज्जाद हुसेन

मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' के बारे में लिखते हैं :

तरक़्क़ी भी 'शरर' ने भी तो क्या की।
घटा की अक्ल और दाढ़ी बढ़ा ली॥

'शरर' विद्वान् तो बहुत थे परन्तु ऐसी फब्तियों का जवाब न दे सकते थे। अब्दुल हलीम 'शरर' ने 'बदरुलनिसा और उसकी मुसीबत' के नाम से एक पुस्तक लिखी। उस पर मुन्शी सज्जाद हुसेन लिखते हैं :

मुसीबत देखकर बदरुलनिसा की।
हलीमन ने कहा मर्ज़ी ख़ुदा की॥

'हलीमन' से मतलब है मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' से।

यह तो मसनवियों की बात हुई; परन्तु ग़ज़लों में भी लखनऊ और दिल्ली की शैली भी अलग-अलग हो गई। दिल्ली में ग़ालिब, मोमिन और ज़ौक़ ग़ज़ल के सर्वप्रसिद्ध कवि माने गए हैं और लखनऊ में 'आतश' और 'नासिख़' को १९वीं शताब्दी के आरम्भ में नये ढंग का प्रवर्तक माना गया है। परन्तु मीर तक़ी 'मीर' को दोनों ही स्थानों में प्रतिष्ठा मिली। जब नासिख़ ने लिखा कि :

आप बे बहरा है, जो मोतक़िदे मीर नहीं।

तो ग़ालिब ने इसी पर मिसरा लगाया था :

ग़ालिब अपना भी अक़ीदा है बक़ौले नासिख़,
आप बे बहरा है, जो मोतक़िदे मीर नहीं।

ग़ालिब एक ग़ज़ल में लिखते हैं :

रेख़्ते में तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब,
कहते हैं अगले ज़माने में कोई मीर भी था।

यह ग़ालिब का बड़प्पन था कि जब उनसे मर्सिया लिखने को कहा गया तो उन्होंने एक-दो 'बन्द' लिखकर यह कह दिया कि यह तो मीर 'अनीस' लखनवी का हिस्सा है।

ग़ज़ल

ग़ज़ल अरबी का शब्द है, जिसका अर्थ है स्त्रियों से बातें करना। इसका

आरम्भ अरब से हुआ। अरब से फ़ारस वालों ने अपनाया और फिर उर्दू-कविता में इसे मुख्य स्थान मिला। उर्दू की ग़ज़ल पर अरबी का उतना प्रभाव नहीं जितना फ़ारसी का है। मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' का यह कहना है कि ग़ज़ल का जितना विकास उर्दू में हुआ उतना न तो अरबी में हुआ और न फ़ारसी में। ग़ज़ल में पहले दोनों मिसरों में 'क़ाफ़िया' (तुकान्त) होता है। जिस शैर में यह पहले दोनों मिसरे होते हैं उस ग़ज़ल के पहले शैर को 'मतला' कहते हैं। 'मतला' का अर्थ है निकलने की जगह। ग़ज़ल के अन्तिम शैर को 'मक़ता' कहते हैं, अथवा कटा हुआ। बीच के जितने शैर होते हैं, उन सबके दूसरे मिसरे का तुक मिलाया जाता है। हम 'ग़ालिब' की एक ग़ज़ल के कुछ शैर उद्धृत करते हैं, जिससे ग़ज़ल का रूप स्पष्ट हो जाय :

कोई तदबीर बर नहीं आती,
कोई सूरत नज़र नहीं आती।
मौत का एक दिन मुक़र्रर है,
नींद क्यों रात-भर नहीं आती ?

पहले आती थी हाले दिल पै हँसी,
अब किसी बात पर नहीं आती।
हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी,
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।

यूँ ही कुछ बात है कि मैं चुप हूँ,
वरना क्या बात कर नहीं आती।
जानता हूँ सवाबे ताअतो ज़ुहद,
पर तबीयत इधर नहीं आती।

काबे किस मुँह से जाओगे 'ग़ालिब',
शर्म तुमको मगर नहीं आती।

इस ग़जल में "कोई सूरत नज़र नहीं आती" यह एक मिसरा हुआ और "कोई सूरत नज़र नहीं आती, कोई तदबीर बर नहीं आती" यह एक शैर हुआ। पहला शैर होने के कारण इसके दोनों मिसरों में तुकान्त है। "नज़र" और "बर" 'काफ़िया' या 'तुकान्त' हैं। "नहीं आती" शब्द को, जो बार-बार हर दूसरे मिसरे के पीछे आता है, 'रदीफ़' कहते हैं। 'रदीफ़' का अर्थ है बाँधने वाला, यह भी अरबी का शब्द है।

"काबे किस मुँह से जाओगे 'ग़ालिब',
शर्म तुमको मगर नहीं आती।"

यह अन्तिम शैर होने के कारण 'मक़ता' कहा जायगा। मक़्तों में कवि का तख़ल्लुस (उपनाम) आता है, जिसे वह अपनी कविता के लिए धारण करता है। कुछ कवि अपने नाम के ही एक अंग को तख़ल्लुस बना लेते हैं। जैसे मीर तक़ी का 'मीर', मुहम्मद इक़बाल का 'इक़बाल'। इसी प्रकार 'ग़ालिब' ने भी, जिनका नाम असदुल्लाख़ाँ था, पहले अपना तख़ल्लुस 'असद' रखा था, परन्तु इस तख़ल्लुस का एक भौंडा कवि भी था। उसका एक मक़ता था :

'असद' तुमने बनाई यह ग़ज़ल ख़ूब,
अरे ओ शैर रहमत है ख़ुदा की।

किसी ने 'ग़ालिब' से पूछा, "क्या यह आपका मक़्ता है।" 'ग़ालिब' को बहुत बुरा लगा। उन्होंने कहा, "अगर यह मेरा मक़्ता होता तो 'रहमत' नहीं बल्कि 'लानत' होता।" और उसी दिन से अपना तख़ल्लुस 'असद' से बदलकर 'ग़ालिब' कर लिया। जैसा पहले कहीं कहा जा चुका है कि पहली ग़जल तो १७वीं शताब्दी में पण्डित चन्द्रभान ने लिखी है, जो 'ब्रिरहमन' तख़ल्लुस रखते थे। परन्तु ग़जलों का जो दीवान सबसे पहले दिल्ली में प्रसिद्ध हुआ वह 'वली' का था, जो १८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए। इस शताब्दी के उत्तरार्ध में 'मीर' सबसे अच्छे ग़जल कहने वाले थे, जो आज सर्व प्रसिद्ध हैं। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दिल्ली में 'ग़ालिब', 'मोमिन' और 'जौक़' तथा लखनऊ में 'आतिश' और 'नासिर' सर्वमान्य थे।

'ज़ौक़' की ख्याति क़सीदे में ग़ज़ल से अधिक थी। 'मोमिन' कहते बहुत अच्छा थे, परन्तु राज-दरबार से प्रतिष्ठा न होने के कारण उनका अधिक मान-दान नहीं हुआ। उनका एक शैर है :

तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता।

कहते हैं कि इस शैर को सुनकर 'ग़ालिब' ने कहा कि "मेरा सारा दीवान इस पर क़ुर्बान है।" यह बड़े आदमियों की बातें हैं, नहीं तो इन तीनों कवियों में सर्व प्रथम स्थान 'ग़ालिब' का है। लखनऊ में 'आतिश' और 'नासिख़' में आपस में खूब चलती थी और फिर दोनों के शागिर्दों (शिष्यों) में भी अखाड़ेबाजी होती थी। 'आतिश' की कविता में ओज अधिक है, 'नासिख़' के यहाँ अलंकार अधिक है और विद्वत्ता भी; उनकी कविता कठिन भी है। जैसा कि उनके दीवान के पहले मतले से प्रकट होता है :

मेरा सीना है मशरिक़, आफ़ताबे दाग़े हिजराँ का,
तुलूए सुबहे महशर, चाक है मेरे गरेबाँ का।

विछोह रूपी सूर्य का उदय मेरे हृदय रूपी पूर्व में होता है। प्रलय का सवेरा मेरा गरेबाँ फटने से होता है।

लखनऊ वालों की ऐसी बातों का दिल्ली वालों ने बहुत उपहास किया। 'नासिख़' ने हिन्दी के बहुत-से शब्द उर्दू से निकाल दिए, जैसे : 'मत', 'सदा', 'बिन' इत्यादि। उस समय तो लखनऊ वालों ने इस पर बहुत गर्व किया कि उर्दू ज़बान साफ़ की जा रही है, परन्तु आज उसकी हानि प्रतीत होती है।

१९वीं शती के उत्तरार्ध में लखनऊ में 'अमीर' और 'जलाल' तथा दिल्ली में 'दाग़' और 'राशिख़' सर्व प्रसिद्ध ग़ज़ल कहने वाले थे। इनमें से 'दाग़' को सबसे ऊँचा स्थान मिला। यद्यपि उनके तीनों समकालीन कवि उनसे अधिक विद्वान् थे। 'दाग़' के कुछ नमूने के शैर यह हैं :

साज़ यह कीनासाज़ क्या जानें,
नाज़ वाले नयाज़ क्या जानें।

'दाग़' के दिल पर जो गुज़रती है,
आप बन्दानवाज़ क्या जानें !

जिसमें लाखों बरस की हूरें हों,
ऐसी जन्नत को क्या करे कोई।

नासिहा तू भी किसी पर जान दे,
हाथ ला उस्ताद, क्यूँ कैसी कही ?

'दाग़' के कोई पाँच हज़ार शागिर्द थे, जिनमें से 'नवरत्न' चुने गए। इन नवरत्नों के नामों में तो मतभेद है परन्तु साधारणतः यह नौ माने जाते हैं—नवाब सायल (जो 'दाग़' के दामाद थे), 'बेखुद' देहलवी (जिनकी आयु अब ६२ वर्ष की है), आग़ा शायर (जिनके यहाँ मुहावरे बहुत मिलते हैं), 'बाग़' सम्भली (जो मुखम्मस बहुत अच्छा कहते थे), 'नूह' नारवी (जो उत्तर प्रदेश में 'दाग़' के सर्वप्रसिद्ध शिष्य माने जाते थे), 'नसीम' भरतपुरी (जिन्होंने राजस्थान में 'दाग़' का नाम रोशन किया), बेखुद मोहानी (जो शिया-कालिज लखनऊ में उर्दू के प्रोफेसर थे), 'जोश' मलस्यानी (जिनका पूरा नाम पण्डित लब्भूराम है और जो पंजाब में 'दाग़' के सर्व प्रसिद्ध शिष्य हैं), 'मेहर' ग्वालियरी (जो गद्य के लेखक भी थे)। कोई-कोई 'सीमाव' अकबराबादी को भी इन नवरत्नों में गिनते हैं।

२०वीं शताब्दी के ग़ज़ल कहने वालों में 'नयाज' फ़तहपुरी ने मौलाना 'हसरत' मोहानी को सबसे ऊँचा स्थान दिया है, परन्तु जन-साधारण 'जिगर' मुरादाबादी को सबसे बड़ा मानते हैं। एक स्कूल ऐसा भी है जो 'फ़िराक़' गोरखपुरी को सर्वश्रेष्ठ मानता है।

अब ग़ज़ल का पहला-सा रूप नहीं रहा। इसमें केवल प्रेम-चर्चा नहीं होती, बल्कि बहुत-से विषय आ जाते हैं। राजनीतिक और सामाजिक विषय तक गज़ल में आने लगे। लखनऊ में 'अज़ीज़' और 'शफ़ी' ने जो रंग अपनाया उसमें दिल्ली और लखनऊ का मेल था। 'फ़ानी' बदायूँनी की कविता में करुण रस बहुत है, बल्कि उसे 'वेदनावाद' कहना चाहिए। 'असग़र'

गोंडवी 'जिगर' मुरादाबादी के गुरु थे। उनकी कविता में जीवन-सन्देश है और जो वेदना अधिकतर उर्दू-कवियों के यहाँ पाई जाती है वह इनके यहाँ नहीं। उर्दू-ग़ज़ल में इनका स्थान सबसे अलग है।

मर्सिया

मर्सिया यों तो 'शोक-काव्य' को कहते हैं, परन्तु विशेषतः इस शब्द का प्रयोग उस 'शोक-काव्य' के सम्बन्ध में होता है, जो हज़रत हुसेन के बलिदान के सम्बन्ध में हो। हुसेन को मानते तो 'शिया' और 'सुन्नी' दोनों ही हैं, परन्तु 'शियों' को उन पर विशेष श्रद्धा है, क्योंकि सुन्नी हज़रत हुसेन के पिता हज़रत अली को हज़रत मुहम्मद के बाद चौथा खलीफ़ा और शिये उन्हें पहला खलीफ़ा मानते हैं। क्योंकि हज़रत हुसेन के साथ केवल ७२ व्यक्ति थे और दूसरी ओर यज़ीद की सेना हज़ारों में थी, इसलिए मर्सिये की कविता में वीर रस के साथ करुण रस भी बहुत होता है। सच पूछिये तो उसमें करुण रस का ही बाहुल्य है। शियों के यहाँ ऐसा मानते हैं कि हज़रत हुसेन की याद में जितना रोया जाय उतना ही अधिक पुण्य होता है। इसलिए मर्सियों में करुण रस का अधिक वर्णन होता है, उसे पढ़ने वाले भी रोने लगते हैं और सुनने वाले भी।

दक्षिण के जिन मुसलमान राजाओं ने प्रारम्भिक काल में कविताएँ कीं उनके यहाँ मर्सिये भी बहुत मिलते हैं। वे मर्सिये चौबोलों के रूप में हैं। मर्सियों का यही रूप मीर तक़ी 'मीर' के यहाँ भी मिलता है। 'सौदा' भी मर्सिये कहते थे। 'सौदा' और 'मीर' अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। परन्तु उनके मर्सिये अधिक प्रसिद्ध नहीं हुए, क्योंकि 'मीर' तो ग़ज़ल के धनी थे और 'सौदा' क़सीदे के। मर्सिये को मीर 'ज़मीर' ने प्रगति दी। इससे पूर्व मर्सिये चौबोलों के रूप में होते थे, परन्तु अब उनका रूप 'मुसद्दस' का हो गया। मीर 'ज़मीर' के सुपुत्र मीर हसन थे, मीर हसन के मर्सियों से उनकी 'मसनवी' अधिक प्रसिद्ध हुई। हाँ, मीर 'हसन' के सुपुत्र मीर 'खलीक़' ने मर्सिये में अधिक नाम पाया, और मीर 'खलीक़' के सुपुत्र

मीर 'अनीस' ने तो कविता की इस श्रेणी को उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।

मीर 'अनीस' के समकालीन मिर्ज़ा 'दबीर' थे। 'अनीस' और 'दबीर' ने लखनऊ की मजलिसों को गरमाया। दोनों में खूब चोटें चलती थीं, दोनों की पार्टियाँ भी बन गई थीं। 'अनीस' की पार्टी वाले 'अनीसिये' और 'दबीर' की पार्टी के लोग 'दबीरिये' कहलाते थे। अल्लामा शिबली ने 'अनीस' और 'दबीर' की तुलनात्मक आलोचना पर एक पुस्तक 'मुआज़िना ए अनीसो-दबीर' के नाम से लिखी, जो उर्दू-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इस पुस्तक में 'अनीस' का दर्जा 'दबीर' से बहुत ऊँचा दिखाया गया है। शिबली की राय में 'दबीर' की कविता में वह प्रवाह नहीं जो 'अनीस' के यहाँ है। उनके कुछ उदाहरण ये हैं :

ज़ेरे क़दमे वालिदा फ़िरदौसे बरीं है (दबीर)

कहते हैं माँ के पाँव के नीचे बहिश्त है (अनीस)

दोनों का आशय एक ही है, परन्तु 'अनीस' के यहाँ जो सरलता पाई जाती है वह 'दबीर' के यहाँ नहीं मिलती। इसी प्रकार यज़ीद की सेना के भागने के सम्बन्ध में 'दबीर' लिखते हैं :

जैसे मकाँ से ज़लज़ले में साहिबे मकाँ

और अनीस ने लिखा है :

जैसे कोई भौंचाल में घर छोड़ के भागे

यहाँ भी 'अनीस' के मिसरे में सरलता और प्रवाह दृष्टिगत होता है। प्रातःकाल का वर्णन करते हुए 'दबीर' लिखते हैं :

गुल गूने ए शफ़क़ जो मला हूरे सुबह ने,
ठण्डे चिराग़ कर दिए काफ़ूरे सुबह ने।

'अनीस' का कहना है :

पिनहाँ नज़र से रूए शबे तार हो गया,
आलम तमाम मतलए अन्वार हो गया।

'अनीस' की जिस कविता का यह शैर है उसका अनुवाद अंग्रेजी में भी किया गया है। 'अनीस' से बढ़कर मर्सिया कहने वाला आज तक पैदा नहीं हुआ। मिर्ज़ा 'ग़ालिब' से जब मर्सिया लिखने को कहा गया तो उन्होंने एक-दो बन्द लिखकर यह उत्तर दे दिया कि "मर्सिया कहना 'अनीस' ही का हिस्सा है।" 'अनीस' के मरने पर 'दबीर' ने सच ही कहा था :

तूरे सीना बे कलीमुल्लाह मम्बर बे-अनीस।

इन कवियों में जीवन-काल में तो पारस्परिक बहुत चोटें चलती थीं, परन्तु जब एक प्रतिद्वन्द्वी मर जाता था तो दूसरे को बहुत दुःख होता था। जिस प्रकार 'दबीर' ने ऊपर का मिसरा कहा था उसी प्रकार 'मुस्हफ़ी' ने अपने मक्ते में कहा है :

'मुस्हफ़ी' किस ज़िन्दग़ी पर नाज़, इतना कीजिये,
याद है मर्गे क़तीलो मुरदने इन्शा मुझे।

मीर 'अनीस' के विषय में मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आबे-हयात' में यह लिखा है कि वे एक रात में ६०० शैर तक कह लेते थे। जब हम 'अनीस' की कविता के ओज और सारल्य को देखते हैं तो आश्चर्य होता है कि इतना अच्छा कहने वाला इतनी जल्दी भी कह सकता था। एक बार 'अनीस' के विरुद्ध यह कहा गया कि वे न तो बादशाह के सम्बन्ध में अपनी कविता में प्रशंसा करते हैं और न उसे ख़ुदावन्द कहते हैं। 'अनीस' पहली बात का उत्तर अपने इस शैर में देते हैं :

ग़ैर की मदहा करूँ शह का सनाख़्वाँ होकर,
मुजरई अपनी हवा खोऊँ सुलेमाँ होकर।

भावार्थ यह है कि हुसेन के सम्बन्ध में कविताएँ लिखने वाले का पद इतना ऊँचा होता है कि फिर उसे किसी और की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। दूसरी बात का उत्तर वे अपनी इस रुबाई में देते हैं :

नादाँ कहूँ दिल को, या ख़िरदमन्द कहूँ,
या सिलसिलए वफ़ा का पाबन्द कहूँ।
एक रोज़ ख़ुदा को मुँह दिखाना है ज़रूर,
किस मुँह से मैं बन्दे को ख़ुदावन्द कहूँ।

'अनीस' के सुपुत्र मीर 'नफ़ीस' और मिर्ज़ा 'दबीर' के पुत्र मिर्ज़ा 'औज' भी अच्छे मर्सिये कहने वाले थे, परन्तु जिनकी बात थी उनके साथ गई। 'नफ़ीस' के बाद 'आरिफ़' और 'रशीद' भी अच्छे मर्सिया कहने वाले थे, परन्तु 'ताअश्शुक़' का दर्जा इन दोनों से ऊँचा है।

ग़ज़ल कहने वालों ने मर्सिया कहने वालों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा और लखनऊ में यह कहावत प्रसिद्ध हो गई कि **'बिगड़ा शायर मर्सियागो।'** परन्तु वास्तव में बहुत-से मर्सिये तो कविता की दृष्टि से इतने ऊँचे हैं कि उर्दू-साहित्य के लिए उन्हें गौरव की वस्तु कहना चाहिए।

मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' उर्दू के दो कवियों को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं—एक मीर 'अनीस' और दूसरे मिर्ज़ा 'ग़ालिब'। मीर 'अनीस' के यहाँ भावों की उत्कृष्टता और भाषा की सरलता के साथ-साथ अलंकारों का इतना सुन्दर प्रयोग है कि उनकी कविता को संसार के साहित्य में स्थान दिया जा सकता है। भाई-बहन का प्रेम, भाई-भाई प्रेम, पति-पत्नी का प्रेम, पिता-पुत्र का प्रेम, माता और पुत्र का प्रेम, नवयुवकों की वीरता, भिन्न-भिन्न ऋतुओं और कालों का वर्णन, तलवार और घोड़े की प्रशंसा आदि सबका वर्णन मर्सियों में पाया जाता है। तलवार और घोड़े के वर्णन में तो कवियों में विशेष प्रतिद्वन्द्विता होती थी।

जिस समय हज़रत हुसेन भूखे-प्यासे दोपहर को लड़ रहे थे उस समय की गर्मी का वर्णन 'अनीस' ने कितने अनूठे ढंग से किया है। वे लिखते हैं :

गर आँख से निकलके ठहर जाय राह में,
पड़ जायँ लाख आबले पाये निगाह में।

अब भी लखनऊ में मर्सिये कहे जाते हैं। 'मुअद्दब' और 'मुहज़्ज़ब'

वर्तमान काल के अच्छे मर्सिया कहने वाले हैं। 'जोश' मलीहाबादी का लिखा हुआ मर्सिया भी बहुत प्रसिद्ध है।

मर्सिये से मिलती-जुलती एक चीज 'सलाम' भी है। 'सलाम' की रूप-रेखा तो ग़जल की-सी होती है, छन्द और तुक भी वैसी ही होती है, परन्तु उसमें वर्णन केवल हजरत हुसेन या हजरत अली का होता है। 'सलाम' न केवल मुस्लिम कवियों ने ही, प्रत्युत हिन्दू-कवियों ने भी बहुत लिखे। श्री विश्वेश्वरप्रसाद 'मुनव्वर', गुरुशरणलाल 'अदीब' लखनवी, शेषचन्द 'तालिब' देहलवी, धर्मपाल गुप्ता 'वफ़ा' देहलवी और कुँवर महेन्द्रसिंह बेदी के लिखे हुए सलाम 'हमारे हुसेन' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं। इस पुस्तक में मेरे लिखे हुए सलाम भी हैं।

पण्डित ब्रजनारायण 'चकबस्त' ने जो मर्सिये लिखे वे हजरत हुसेन के सम्बन्ध में नहीं, प्रत्युत वे कुछ नेताओं के सम्बन्ध में हैं, उन्होंने लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले इत्यादि की मृत्यु पर मर्सिये लिखे हैं, जिनका उर्दू-साहित्य में ऊँचा स्थान है।

: ३ :

गद्य का प्रारम्भ

कलकत्ता में

यों तो अंग्रेजों ने सबसे पहले सूरत में अपना अड्डा जमाया था, परन्तु जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में शासक के रूप में उदय होने लगी तो अंग्रेजों का केन्द्र कलकत्ता बन गया। लार्ड क्लाइव को भारत में अंग्रेजी राज्य का प्रथम संस्थापक माना जाता है। प्लासी की लड़ाई के बाद ही एक प्रकार से अंग्रेजी राज्य स्थापित हो गया। यह बात तो सन् १७५७ की हुई; परन्तु अंग्रेजी राज्य के द्वितीय स्तम्भ वारेन हेस्टिंग्ज ने इस राज्य को अवध तक फैला दिया। राज्य-व्यवस्था की स्थापना के साथ-साथ ऐसे कार्य-क्रम की भी आवश्यकता थी जिससे राज्य की जड़ें भी जम जायँ। मुग़लों के राज्य में फ़ारसी राज-भाषा थी, परन्तु वह जन-साधारण की भाषा न थी। अंग्रेजों ने यह सोचा कि यदि हमें भारत की जनता से सम्पर्क रखना है और यहाँ के मध्यवर्गीय व्यक्तियों से राज-काज चलाने का काम लेना है, तो फिर हमें जनता की भाषा तथा जनता को हमारी भाषा सीखनी होगी। इसी विचार को लेकर सन् १८०० में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालिज स्थापित किया गया, जहाँ सरल उर्दू और सरल हिन्दी पढ़ाई जाती थी। सर जान गिल क्राइस्ट ने, जो इस कालिज के प्रिंसिपल थे, स्वयं उर्दू

सीखी और उसका अभ्यास भी बढ़ाया।

दिल्ली का दरबार तो उजड़ ही चुका था। इधर अवध की बेगमों और वारेन हेस्टिंग्ज में जो झगड़ा चल रहा था उससे यह अनुमान भली प्रकार किया ही जा सकता था कि लखनऊ का दरबार भी बहुत दिनों चलने वाला नहीं। इसलिए उर्दू के बहुत-से लेखकों ने कलकत्ता की राह पकड़ी। इनमें से अधिकतर गद्य के लेखक थे।

यहाँ एक और बात उल्लेखनीय है। नवाब वाजिद अली शाह को गद्दी से उतारकर जब लखनऊ से कलकत्ता भेजा गया तो उर्दू के बहुत-से कवि और विद्वान् भी उनके साथ चले गए। इस प्रकार कलकत्ता में उर्दू वालों का अच्छा खासा जमघट हो गया।

कलकत्ता से जो साहित्य निकला, उसमें न तो बहुत विचारों की उड़ान थी और न ओज ही था; क्योंकि उसको लिखा ही इसलिए गया था कि अंग्रेज जन-साधारण की भाषा समझें। फिर भी इस साहित्य से उर्दू में एक नवीन शैली चल गई। इस सम्बन्ध में मीर 'अम्मन' देहलवी की लिखी हुई पुस्तक 'चार दरवेश' बहुत प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम 'बाग़ो बहार' भी है। इसकी कहानी साधारण-सी थी—'चार साधु एक रात को एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और अपने-अपने जीवन की घटनाएँ सुनाते हैं।' मीर 'अम्मन' देहलवी ने इस पुस्तक में जो भाषा लिखी है उस पर उन्होंने यह गर्व किया है कि यह दिल्ली की टकसाली भाषा है। अपने-आपको उन्होंने लिखा है कि हम लोग दिल्ली के रोड़े हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस पुस्तक को उर्दू-गद्य के प्रथम साहित्य में वही स्थान मिला, जो सैयद इन्शा की 'रानी केतकी की कहानी' को। परन्तु लखनऊ वाले इससे बिगड़ बैठे और मिर्ज़ा रज्जब अली बेग 'सुरूर' लखनवी ने इसके जवाब में 'फ़िसानये अजायब' नाम की एक पुस्तक लिखी जो सब-की-सब उपमा और अलंकारों से भरी पड़ी है। इस पुस्तक की शैली बहुत कठिन है। मीर 'अम्मन' देहलवी पर वह यह चोट करते हैं कि 'दिल्ली के रोड़े हैं, मोहयरात के हाथ-मुँह तोड़े हैं।' सच पूछिये

तो यह पुस्तक 'चार दरवेश' का कोई जवाब नहीं। जरा इसकी भाषा का नमूना तो देखिए :

मोहर्रिराने रंगीं तहरीर व मुक़र्रिराने जादू तक़रीर ने मैदाने वसीअ्र बयान में अशहबे जेहन्दये क़लम को गरमे इनानो जौलाँ यूँ किया है।

भला इस भाषा का जन-साधारण की भाषा से क्या सम्बन्ध ? परन्तु लखनऊ और दिल्ली का प्रश्न बन जाने से इस पुस्तक को भी उर्दू-साहित्य में बहुत अच्छा स्थान मिल गया। दिल्ली वालों ने फिर इसके जवाब में 'सरोशे सुख़न' नाम की पुस्तक लिखी; परन्तु जितनी ख्याति 'चार दरवेश' और 'फ़िसानये अजायब' को मिली उतनी इस पुस्तक को प्राप्त नहीं हुई।

'फ़िसानये अजायब' की कहानी भी बहुत घिसी हुई-सी है। एक राजा के यहाँ बड़े मान-दान से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने कहलाया कि तरुण अवस्था के साथ ही इस पर साढ़साती शनीचर आयगा, परन्तु उसके उतर जाने पर यह सुखमय जीवन व्यतीत करेगा। यह बालक जब किशोर अवस्था को प्राप्त होता है तो एक तोता मोल ले आता है और वह तोता 'मलिका जहाँ आरा' के रूप की बहुत प्रशंसा करता है। यह बालक मन्त्री के बेटे को साथ लेकर चल देता है और अनेक कठनाइयों के बाद मलिका जहाँ आरा को ले आता है। 'सुरूर' ने अपनी पुस्तक में लखनऊ की बहुत प्रशंसा की है और कानपुर की निन्दा। कानपुर के विषय में वे लिखते हैं :

'कानपुर की बरसात, हयहात-हयहात
अगर ख़्वाब में निकल गए, चौंक पड़े कि फिसल गए'
देखी है यह रस्म इस नगर में, जूता है गली में आप घर में।

लखनऊ के बारे में लिखते हैं :

जो मिले जन्नत भी, रहने को बजाये लखनऊ,
चौंक पड़ता हूँ मैं हरदम, कह के हाये लखनऊ।

कलकत्ता से 'बैताल पच्चीसी' नाम की लल्लूलाल की लिखी जो पुस्तक प्रकाशित हुई उसे चाहे उर्दू कह लीजिये या हिन्दी। दोनों ही लिपियों में उसका प्रकाशन हुआ। लल्लूलाल जी का 'सुख सागर', जो ब्रज भाषा में

है, बहुत प्रसिद्ध है। इसमें पुराने ढंग की २५ कहानियाँ हैं, जिनमें भूत-प्रेत आदि का वर्णन अत्यधिक आया है। 'तोता-मैना की कहानी' बहुत साधारण है। परन्तु यह सब पुस्तकें उर्दू-साहित्य में एक नई शैली की द्योतक हैं। सर जान गिल क्राइस्ट ने उर्दू का व्याकरण भी लिखा। परन्तु यह कहना कठिन है कि सैयद इन्शा अल्लाखाँ ने व्याकरण पहले लिखा या इस अंग्रेज ने।

दिल्ली में

यह तो हम पहले ही बतला चुके हैं कि फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ता में एक उर्दू-अकादमी थी, जिसमें मीर 'अम्मन' देहलवी और लल्लूलाल आदि ने सरल उर्दू भाषा में पुस्तकें लिखीं और कालिज के प्रिंसिपल जान गिल क्राइस्ट नें प्रथम व्याकरण लिखा। परन्तु उर्दू का सबसे पहला व्याकरण गार्सों द तासी ने लिखा था, जो फ्रांस का रहने वाला था, परन्तु भारत में आया था और उर्दू-साहित्य पर उसने खोज की थी। सैयद इन्शा देहलवी ने भी उर्दू का एक व्याकरण लिखा। सैयद इन्शा ने अपनी पुस्तक 'दरियाय लताफ़त' में यह बड़े मार्के का सिद्धान्त लिखा कि जो शब्द अन्य भाषाओं से उर्दू में आये हैं यदि उनको वास्तविक उर्दू में लिखा जाय तब भी ठीक है और यदि उर्दू भाषा में आने से जन-साधारण के प्रयोग से उनमें रूपान्तर हो गया हो तो भी ठीक है। जैसे अरबी का असली शब्द 'तम ईज़' है, इसको उर्दू में और कहीं-कहीं फ़ारसी में 'तमीज' कर लिया गया। सैयद इन्शा के सिद्धान्त से यह दोनों ही प्रयोग ठीक हैं और उर्दू में हुआ भी ऐसा ही। १९वीं शताब्दी का एक कवि लिखता है :

तमीज़ कर तू अभी जाके जानवर पैदा

और २०वीं शताब्दी के एक कवि ने लिखा :

ख़ुदा ने दी है तुमको अक़्ल ओ तम ईज़

इसी प्रकार 'नशा' अरबी में अपने वास्तविक रूप में 'नशआ' है, परन्तु उर्दू में उसके दोनों ही रूप प्रचलित हैं।

नशश्रा दौलत का बदअतवार को जिस आन चढ़ा,
सर पै शैतान के एक और भी शैतान चढ़ा।

यह बहादुरशाह जफ़र का शैर है, जिसमें 'नशश्रा' अपने वास्तविक अरबी रूप में आया है। परन्तु डॉक्टर 'इक़बाल' लिखते हैं :

नशा पिला के गिराना तो सबको आता है,
मज़ा तो जब है कि गिरतों को थाम ले साक़ी!

यहाँ 'नशा' शब्द अपने बदले हुए रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसी प्रकार 'मौसिम' उर्दू में आकर 'मौसम' हो गया। 'सहीह' से 'सही' बन गया और ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं।

सैयद इन्शा ने 'रानी केतकी' की जो कहानी लिखी उसे हिन्दी और उर्दू वाले दोनों ही अपनाते हैं। इसके ५० पृष्ठों में एक भी अरबी या फ़ारसी का शब्द नहीं आया, परन्तु मुहावरों में 'चार दरवेश' और 'बैताल पच्चीसी' से यह कहीं बढ़कर है। 'ग़ालिब' ने उर्दू में अपने मित्रों और सम्बन्धियों को जो पत्र भेजे उनसे उर्दू-गद्य का एक नया युग आरम्भ होता है। पहले संबोधन में बड़े भारी-भरकम अरबी-फ़ारसी के शब्द लिखे जाते थे, परन्तु ग़ालिब कहीं 'मेहरबान', कहीं 'महाराज' और कहीं 'हजरत' या 'बन्दापरवर' लिख देते हैं और बस इसीके बाद मतलब की बात लिखने लगते हैं। कहीं-कहीं तो वे सम्बोधन के यह शब्द भी नहीं लिखते। उनका अपने इन पत्रों पर यह गर्व सच ही था कि "मैं सैकड़ों मील दूर बैठे बातचीत कर लेता हूँ।" 'ग़ालिब' के इन पत्रों के तीन संग्रह छपे हैं, जो अब तक अपनी शैली में अद्वितीय हैं। उर्दू के पत्रों का सबसे पहला संग्रह 'ग़ालिब' ही का है। उसके बाद और बहुत-से संग्रह छपे, जिनमें मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' का 'मक़तूबाते आज़ाद', डॉ. सर मुहम्मद 'इक़बाल' का 'इक़बालनामा' और मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' का 'ग़ुबारे ख़ातिर' बहुत प्रसिद्ध हैं।

'ग़ालिब' के शिष्य ख्वाजा अल्ताफ़ हुसेन 'हाली' और 'ज़ौक़' के शिष्य मौलाना मुहम्मद ने उर्दू-गद्य की नवीन शैली की नींव डाली। 'ग़ालिब' के

पत्र विशेषतः व्यावहारिक रूप के हैं, परन्तु इन दोनों विद्वानों ने नवीन धारा का शृङ्खलाबद्ध गद्य लिखा। 'हाली' के गद्य की पुस्तकें 'हयाते जावेद', 'हयाते सादी' और 'मुक़द्दमये शैरो-शायरी' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से अन्तिम पुस्तक तो उनकी कविता के दीवान की भूमिका है। परन्तु यह भूमिका स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में उनके दीवान से अधिक विख्यात हुई, क्योंकि इसमें प्राचीन शैली की कविता का विरोध और नवीन शैली को प्रोत्साहन दिया गया था। नवीन शैली के उर्दू-गद्य-लेखकों में सर सैयद अहमद खाँ का भी बड़ा ऊँचा स्थान है। उनकी पुस्तक 'आसारुस सनादीद' आज भी बड़े चाव से पढ़ी जाती है। सर सैयद ने 'तहज़ीबुल अख़लाक़' नाम की जो पत्रिका चलाई थी वह नवीन शैली की थी। इसके द्वारा वह अंग्रेजी सभ्यता की प्रशंसा और वर्तमान सभ्यता की निन्दा करते थे।

मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने उर्दू-गद्य में बहुत-सी पुस्तकें लिखीं जिनमें 'आबे हयात', जो उर्दू-कविता का इतिहास है, सर्व प्रसिद्ध है। उनकी दूसरी पुस्तकें 'क़ससे हिन्द', 'नय रंगे ख्याल' और 'अकबरनामा' इत्यादि हैं। उनकी अन्तिम पुस्तक 'जानबरिस्तान' है, जो उन्होंने ऐसे समय में लिखी जब उन पर पागलपन के दौरे पड़ते थे। इसलिए इस पुस्तक में पिछली पुस्तक-जैसी बात नहीं है। इन सबके बाद मौलाना शिबली का नाम आता है, जो सर सैयद के अलीगढ़-कालिज के उर्दू के प्रोफ़ेसर थे। उन्होंने 'मआरिफ़' नाम की पत्रिका आज़मगढ़ से चलाई। दिल्ली में प्रथम उपन्यास-लेखक मौलवी नजीर अहमद हुए, जिनकी बहुत-सी पुस्तकें हैं, उनमें 'तौबतुन नसूह'; 'बिनातुन नाश'; 'मिरातुल उरूस' सर्व प्रसिद्ध हैं।

लखनऊ में

यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि दिल्ली के बहुत-से कवि अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लखनऊ चले गए थे। इसीके साथ-साथ लखनऊ में उर्दू-गद्य के विकास का भी आरम्भ होने लगा। दिल्ली में तो राज-भाषा फ़ारसी थी इस कारण

लखनऊ के दरबार का भी जो-कुछ पत्र-व्यवहार अंग्रेज-अफ़सरों और दिल्ली-दरबार से होता था, वह फ़ारसी में होता था, परन्तु नवाबों की भाषा उर्दू होती थी। मिर्जा रज्जब अली बेग 'सुरूर' की पुस्तक 'फ़िसानये अजायब' का वर्णन पहले हो चुका है। इस पुस्तक में एक शैर आया है :

ता अबद क़ायम रहे फ़रमा खाये लखनऊ,
यह नसीरुद्दीन हैदर बादशाये लखनऊ।

जिससे यह प्रतीत होता है कि यह पुस्तक सन् १८१० ई० और सन् १८२० के बीच लिखी गई। इसकी भाषा को हम लखनऊ की जनता की भाषा नहीं कह सकते, क्योंकि साधारण भाषा में इतनी उपमाएँ और अलंकार नहीं होते, परन्तु जहाँ-जहाँ प्रेमी और प्रेमिका में प्रेम की बातें होने लगतीं हैं, वहाँ साधारण भाषा की झलक आ जाती है और उस समय की लखनऊ की बोली का कुछ पता लगता है। ख्वाजा अहमद फ़ारूक़ी ने अवध के अन्तिम नवाब वाजिद्अली शाह और उनकी बेग़मों के जिस पत्र-व्यवहार का वर्णन किया है उसमें लखनऊ की साधारण भाषा मिलती है। परन्तु इन पत्रों में भी कहीं-कहीं कृत्रिमता पाई जाती है, क्योंकि जो बेग़में कम पढ़ी-लिखी थीं वे विद्वानों से पत्र लिखाती थीं; उन पत्रों में साहित्यिक झलक दिखलाई देती है। लखनऊ में पहला साप्ताहिक पत्र तो ग़दर से पहले ही निकल चुका था, परन्तु पहला दैनिक पत्र ग़दर के बाद सन् १८५८ में निकलना आरम्भ हुआ। वह 'अवध अखबार' था, जो मुन्शी नवलकिशोर के छापेखाने से निकलता था। उस समय तक उर्दू के दैनिक पत्रों का रंग कुछ और ही था। उनमें इतना गहरा राजनीतिक रंग नहीं होता था जितना आजकल होता है। पं० रतननाथ 'सरशार' जब इस पत्र के सम्पादक नियुक्त हुए तो इसको चार चाँद लग गए। 'सरशार' कविता में तो मुन्शी अमीर अहमद मीनाई 'अमीर' लखनवी के शिष्य थे, परन्तु इन्होंने गद्य में अधिक ख्याति पाई। इनका प्रथम उपन्यास 'फ़िसानए आज़ाद' इसी पत्र में सबसे पहले छपा था और यही उर्दू का प्रथम उपन्यास है। लखनऊ के जीवन का ऐसा कोई रहस्य नहीं है जो इस उपन्यास में न

मिलता हो। अंग्रेजी जीवन, मुस्लिम जीवन, हिन्दू-जीवन और फिर उनमें मौलवियों, पण्डितों, कायस्थों के जीवन पर अलग-अलग व्यंग मिलते हैं। मेले-त्यौहार, जलसे-जुलूस, नाच-रंग, अखाड़े-सरकस सब-कुछ इस उपन्यास में हैं। यह उपन्यास चार भागों में है और बड़े चाव से पढ़ा जाता है। 'सरशार' की शैली को उर्दू में कोई और नहीं पा सकता। इन्होंने और भी बहुत-से उपन्यास लिखे हैं, जिनमें 'कुड्डम धुम्म', 'पीकहाँ', 'हुश्शू', 'जामे सरशार' और 'सैरे कोहसार' अधिक प्रसिद्ध हैं।

सन् १८७७ में लखनऊ से 'अवध पंच' निकला। इसके सम्पादक मुन्शी सज्जाद हुसेन थे, जो हास्य-रस में 'सरशार' से पीछे नहीं थे, परन्तु उनको इतनी ख्याति प्राप्त नहीं हुई। यह मानना पड़ेगा कि सज्जाद हुसेन का काम 'सरशार' से अधिक कठिन था, क्योंकि यह हास्य-रस में राजनीतिक लेख लिखते थे। यों तो यह पत्र इस नाम से कोई ६० साल तक चला, परन्तु वास्तव में वह सन् १९१८ में मुन्शी सज्जाद हुसेन के जीवन में समाप्त हो गया था। मुन्शी सज्जाद हुसेन के अन्तिम १० वर्ष रुग्णावस्था में बीते। उन पर फ़ालिज गिरा था, जो उनकी जान लेकर गया। उनके जीवन में ही इस पत्र की आर्थिक दशा बिगड़ चुकी थी, जिसका उन्हें बहुत दुःख था। उस पत्र में लिखने वालों में मिर्ज़ा मच्छू बेग, पंडित त्रिभुवननाथ 'हिज्र', मुन्शी ज्वालाप्रसाद 'बर्क़' और नवाब मुहम्मद हुसेन अधिक प्रसिद्ध हैं। सैयद सज्जाद हुसेन लखनऊ में सबसे पहले मुस्लिम कांग्रेसी थे। जब सन् १८९९ में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था तो उसके विरोध में लखनऊ के नवाबों का एक जलसा हुआ। उस पर मुन्शी सज्जाद हुसेन ने अपने पत्र में एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था—'अण्डे-बच्चे वाली चील चिल्होर'। इस लेख में उन्होंने इस जलसे का नक्शा खींचा है कि कुछ पालकियों में नवाब साहब, कुछ में उनकी बेगमें, बटेरों की काबुकें, तीतरों के पिंजरे, बुलबुलों के अड्डे और इस वातावरण में अंग्रेजों के प्रति स्वामि-भक्ति का प्रदर्शन। इस लेख की बड़ी चर्चा हुई। 'अवध पंच' का एक और निबन्ध 'बरसात की कचहरी' भी अपना जवाब आप ही था।

इसके लेखक मिर्ज़ा मच्छू बेग सितम ज़रीफ़ थे।

मुन्शी अमीर अहमद मीनाई ग़ज़ल के उस्ताद तो थे ही परन्तु विद्वान् भी बहुत बड़े थे। उन्होंने 'अमीरुल लुग़ात' नाम से उर्दू का एक शब्द-कोश लिखना आरम्भ किया था। इसके पूर्ण होने से पहले ही उनका जीवन समाप्त हो गया। लखनऊ से एक और उर्दू का शब्द-कोश—'अज़ीज़ुल-लुग़ात' प्रकाशित हुआ। यह कोश मिर्ज़ा मुहम्मद हादी 'अज़ीज़' लखनवी का लिखा हुआ है, जो अमीनाबाद-हाई-स्कूल में उर्दू के अध्यापक रहे थे। इन पंक्तियों का लेखक उनका शिष्य था और उसी नाते से इसने ही उर्दू के प्रचलित अंग्रेज़ी शब्दों का संग्रह 'अज़ीज़ुल लुग़ात' के लिए किया था।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में मुन्शी गंगाप्रसाद वर्मा ने 'हिन्दुस्तानी अख़बार' निकाला। इसके सम्पादक बहुत दिनों तक पं० कृष्णप्रसाद कौल रहे, जो अब भी जीवित हैं और उर्दू-साहित्य के एक प्रसिद्ध व्यक्ति माने जाते हैं। 'हिन्दुस्तानी अख़बार' में राजनीतिक लेख भी निकलते थे और साहित्यिक भी। जैसे 'अवध अख़बार' और 'अवध पंच' में करारी चोटें चलती थीं वैसे ही 'हिन्दुस्तानी अख़बार' और 'अवध पंच' में भी, क्योंकि 'अवध पंच' गरम विचारों का था और 'हिन्दुस्तानी अख़बार' का सम्बन्ध नरम दल से था। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में ही साप्ताहिक 'तफ़रीह' नाम का पत्र मुन्शी नौबतराय 'नज़र' ने निकाला। मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' का संक्षिप्त वर्णन पहले ही हो चुका है। पिछली शताब्दी में ही उन्होंने 'दिल-गुदाज़' नाम का पत्र निकाला। इस 'दिल-गुदाज़' और 'अवध पंच' में भी चोटें चला करती थीं। मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' ने बहुत-से उपन्यास लिखे। एक उपन्यास की बदौलत इनकी जान के लाले पड़ गए। उसका नाम था—'दरबारे हरामपुर'। नाम से ही पुस्तक के रंग का पता लग जाता है। इनके और भी कई उपन्यास हैं। मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने 'आबे-हयात' नाम की पुस्तक में उर्दू का जो इतिहास लिखा, उसमें लखनऊ को कोई ऊँचा स्थान नहीं दिया। उसके जवाब में मौलाना 'शरर' ने 'उर्दू सिकन्दर' नाम की एक पुस्तक लिखी, जिसमें न केवल मुहम्मद हुसेन

'आजाद' बल्कि उनके उस्ताद शेख इब्राहीम 'जौक़' पर भी चोटें थीं। 'शरर' की पुस्तक 'उर्दू लिटरेचर' को 'आबे हयात'-जैसी मान्यता प्राप्त न हो सकी। सन् १८८५ में मौलाना 'शरर' आल इण्डिया उर्दू-कान्फ्रेंस के प्रधान हुए। इसीके कुछ महीने बाद उनका देहान्त हो गया। इनके लेखों में साम्प्रदायिकता बहुत है, सज्जाद हुसेन और सरशार-जैसी उदारता नहीं।

इसके लेखक मिर्जा मच्छू बेग सितम ज़रीफ़ थे।

मुन्शी अमीर अहमद मीनाई ग़ज़ल के उस्ताद तो थे ही परन्तु विद्वान् भी बहुत बड़े थे। उन्होंने 'अमीरुल लुग़ात' नाम से उर्दू का एक शब्द-कोश लिखना आरम्भ किया था। इसके पूर्ण होने से पहले ही उनका जीवन समाप्त हो गया। लखनऊ से एक और उर्दू का शब्द-कोश—'अज़ीज़ुल-लुग़ात' प्रकाशित हुआ। यह कोश मिर्ज़ा मुहम्मद हादी 'अज़ीज़' लखनवी का लिखा हुआ है, जो अमीनाबाद-हाई-स्कूल में उर्दू के अध्यापक रहे थे। इन पंक्तियों का लेखक उनका शिष्य था और उसी नाते से इसने ही उर्दू के प्रचलित अंग्रेज़ी शब्दों का संग्रह 'अज़ीज़ुल लुग़ात' के लिए किया था।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में मुन्शी गंगाप्रसाद वर्मा ने 'हिन्दुस्तानी अख़बार' निकाला। इसके सम्पादक बहुत दिनों तक पं० कृष्णप्रसाद कौल रहे, जो अब भी जीवित हैं और उर्दू-साहित्य के एक प्रसिद्ध व्यक्ति माने जाते हैं। 'हिन्दुस्तानी अख़बार' में राजनीतिक लेख भी निकलते थे और साहित्यिक भी। जैसे 'अवध अख़बार' और 'अवध पंच' में करारी चोटें चलती थीं वैसे ही 'हिन्दुस्तानी अख़बार' और 'अवध पंच' में भी, क्योंकि 'अवध पंच' गरम विचारों का था और 'हिन्दुस्तानी अख़बार' का सम्बन्ध नरम दल से था। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में ही साप्ताहिक 'तफ़रीह' नाम का पत्र मुन्शी नौबतराय 'नज़र' ने निकाला। मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' का संक्षिप्त वर्णन पहले ही हो चुका है। पिछली शताब्दी में ही उन्होंने 'दिल-गुदाज़' नाम का पत्र निकाला। इस 'दिल-गुदाज़' और 'अवध पंच' में भी चोटें चला करती थीं। मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' ने बहुत-से उपन्यास लिखे। एक उपन्यास की बदौलत इनकी जान के लाले पड़ गए। उसका नाम था—'दरबारे हरामपुर'। नाम से ही पुस्तक के रंग का पता लग जाता है। इनके और भी कई उपन्यास हैं। मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने 'आबे-हयात' नाम की पुस्तक में उर्दू का जो इतिहास लिखा, उसमें लखनऊ को कोई ऊँचा स्थान नहीं दिया। इसके जवाब में मौलाना 'शरर' ने 'उर्दू [illegible]' नाम की एक पुस्तक लिखी, जिसमें न केवल मुहम्मद हुसैन

'आजाद' बल्कि उनके उस्ताद शेख इब्राहीम 'ज़ौक़' पर भी चोटें थीं। 'शरर' की पुस्तक 'उर्दू लिटरेचर' को 'आबे हयात'-जैसी मान्यता प्राप्त न हो सकी। सन् १८८५ में मौलाना 'शरर' आल इण्डिया उर्दू-कान्फ्रेंस के प्रधान हुए। इसीके कुछ महीने बाद उनका देहान्त हो गया। इनके लेखों में साम्प्रदायिकता बहुत है, सज्जाद हुसेन और सरशार-जैसी उदारता नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी

सर्वश्रेष्ठ कवि 'ग़ालिब'

मिर्ज़ा असदुल्ला खाँ, जो पहले 'असद' और फिर 'ग़ालिब' तख़ल्लुस रखते थे, १८वीं शताब्दी के अन्त में आगरा में पैदा हुए, परन्तु उनकी कविता का विकास दिल्ली में हुआ। इनको मिर्ज़ा 'नौशा' भी कहते थे। 'ग़ालिब' की शैली उर्दू-कविता में अद्वितीय है। इतनी ऊँची उड़ान किसी और उर्दू-कवि की नहीं। वह अपनी शैली की कठिनाई पर गर्व भी किया करते थे। उनकी एक रुबाई है :

मुश्किल है ज़ि बस कलाम मेरा ऐ दिल,
सुन-सुन के उसे सुख़नवराने कामिल।
आसाँ कहने की करते हैं फ़रमाइश,
गोयम मुश्किल वगर न गोयम मुश्किल।

अन्तिम पंक्ति का अर्थ है 'कहूँ तो मुश्किल, न कहूँ तो मुश्किल।' इसी प्रकार उनकी एक ग़ज़ल का शेर है :

आगही दामे शुनीदन, जिस क़दर चाहे बिछाये,
मुद्दआ अनक़ा है अपने आलमे तक़रीर का।

अर्थात् [illegible] का जाल [illegible] पर भी बुद्धि में [illegible]

अदृश्य पक्षी को पकड़ नहीं सकती। एक जगह वे साधारण भाषा में कहते हैं :

न सिताइश की तमन्ना, न सिला की परवा,
गर नहीं हैं मेरे अश्आर में मानी, न सही।

कारण यह है कि 'ग़ालिब' इतना ऊँचा लिखते थे कि साधारण व्यक्ति उनकी कविता को समझ नहीं पाते थे और राज-दरबार में 'जौक़' का अधिक मान-दान था। इसलिए उनकी कविता की प्रतिष्ठा केवल विद्वानों में ही थी। 'ग़ालिब' की कठिन और सरल दोनों प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं। उनके थोड़े-से कठिन शैर संक्षिप्त अर्थ सहित यहाँ दिये जाते हैं :

मेरी तामीर में मुज़मर है एक सूरत ख़राबी की,
हयूला बर्क़े ख़िरमन का है ख़ूने गर्म दहक़ाँ का।

पहले 'हयूला' शब्द को समझ लेना चाहिए। 'हयूला' गर्भ की उस स्थिति को कहते हैं जब कि बच्चे के हाथ-पाँव इत्यादि न बने हों। कवि कहता है कि मेरे बनने में ही मेरा विनाश गुप्त रूप से मिला हुआ था और उसकी उपमा यह देता है कि खलिहान पर जो बिजली गिरी वह उस गर्मी से पैदा हुई थी जो काम करते-करते कृषक के रुधिर में प्रथम रूप में स्थापित हुई।

दामे हर मौज में है हल्क़ये सदकामे निहंग,
देखें क्या गुज़रे है क़तरे पै गुहर होने तक।

दूसरा मिसरा तो साफ़ है, परन्तु पहले मिसरे के समझने में जरा कठिनाई होती है। इसका अर्थ है—एक-एक लहर के चक्कर सौ-सौ मगरमच्छों के गले के चक्कर हैं। ऐसी अवस्था में न जाने वह कौन-सी बूँद है जो मोती बन सके। कवि ने जीवन के विकास की कठिनाइयों को अनुपम रूप से दरशाया है।

काविश का दिल करे है तक़ाज़ा, कि है हिनोज़,
नाख़ुन पै क़र्ज़ उस गिरहे नीम-बाज़ का।

शब्दार्थ यह है कि एक गाँठ आधी खुलकर रह गई है। हमारे नखों पर

उसका ऋण है, इसलिए हृदय बार-बार कुरेदने का आग्रह करता है। भावार्थ यह है कि नख मनुष्य की कर्म-शक्ति है। उस कर्म-शक्ति पर यह ऋण है कि वह जीवन की समस्याओं को सुलझाये। न तो वह पूरी तरह सुलझ पाती हैं और न मन ही सन्तोष करके बैठ पाता है। बस यही जीवन का खेल है। जीवन सामूहिक हो या व्यक्तिगत, उसके विकास में यह क्रम बराबर जारी रहता है।

शुमारे सुब्हा मरग़ूबे बुते मुश्किल पसन्द आया,
तमाशाये बयक कफ़ बुरदने सदृदिल पसन्द आया।

अर्थात् मैं तो यह समझ रहा हूँ कि वे माला फेर रहे हैं, परन्तु माला में वह दाने नहीं वरन् प्रेमियों के हृदय हैं, इस कारण प्रेमियों का वह हृदय-सम्राट् माला के उन मनकों को बार-बार फेरता है और प्रसन्न है कि सौ हृदयों को एक हाथ में लेने का तमाशा हो रहा है। इस उपमा और मनकों के फेरने की बारीकी को वही लोग समझ सकते हैं, जो कविता के रसिक हैं।

यह तो 'ग़ालिब' के वह शेर हैं जो उन्होंने कठिन भाषा में लिखे हैं; परन्तु साधारण भाषा में भी उनके बहुत-से कठिन शेर मिलते हैं। जैसे :

मैं बुलाऊँ और खुले, यों कौन जाय,
यार का दरवाज़ा पाऊँ गर खुला।

इस शेर में 'यों कौन जाय' का अर्थ दोनों ओर लग सकता है अर्थात् ऐसी जगह कौन जाय जहाँ खुलवाने पर दरवाज़े खुलते हों। दूसरा अर्थ यह है कि यार का दरवाज़ा खुला पाऊँ तो क्या जाऊँ? ऐसी जगह तो सभी जा सकते हैं, बात तो तब है जब कि मैं खुलवाऊँ और वह खुले।

'ग़ालिब' के स्वभाव को देखते हुए पहला ही अर्थ मानना पड़ता है, क्योंकि वह ऐंठ और स्वाभिमान पर मरते हैं :

बन्दगी में भी वह आज़ादओ खुद्दार हैं हम,
उलटे फिर आये दरे काबा अगर वा न हुआ।

अर्थात् हम ऐसे हैं कि ईश्वर के दास बनते, परन्तु स्वतन्त्रता और स्वाभिमान अपने-आप का इस क़दर [illegible] फिर भी [illegible] आए।

इसी प्रकार 'ग़ालिब' का एक फ़ारसी में शैर है :

तश्ना लब बर साहिले दरिया बग़ैरत जाँ दिहम,
गर ब मौज़ उफ़्तद गुमाने चीने पेशानी मरा।

अर्थात् यदि मैं नदी के किनारे प्यासा खड़ा हूँ, और मुझे यह भ्रम हो जाय कि यह जो लहरें हैं मेरे आने से नदी के माथे पर बल पड़ गए तो चाहे मैं प्यासा मर जाऊँ परन्तु पानी न पिऊँगा।

'ग़ालिब' का यह स्वाभिमान अंग्रेज़ी राज्य स्थापित होने पर नष्ट हो गया। उन्हें गिरफ़्तार किया गया और वह भी जुए की इल्लत में। जेल में उन्हें बहुत बुरी तरह सताया गया। ग़दर के बाद वह समाज, जिससे उनको प्रेम था, छिन्न-भिन्न हो गया। फलतः वह ऐसे शैर लिखने लगे :

मुनहसिर मरने पै हो जिसकी उमीद,
ना उमीदी उसकी देखा चाहिए।

अर्थात् जिसकी एक-मात्र आशा मरने में ही रह गई हो उसका जीवन ही निराशा है। देखिये यह निराशा कब तक रहती है। अर्थात् कब वह मरता है और कब उसकी यह आशा पूर्ण होती है।

'ग़ालिब' का कविता में ही नहीं, गद्य में भी बहुत ऊँचा स्थान है। उनके पत्रों के संग्रह, जो 'उर्दूये मोअल्ला', 'ऊदे हिन्दी' और 'ख़ुतूते ग़ालिब' के नाम से छपे हैं, अब तक अद्वितीय हैं। आश्चर्य होता है कि जो कवि इतनी कठिन कविता लिखता है वह इतनी साधारण भाषा कैसे लिख सकता है! 'ग़ालिब' ने हास्य-रस पर कुछ लिखा तो नहीं परन्तु उनके जीवन में 'हास्य' और 'करुण' रस मिश्रित थे। एक दिन जब वे अपने घर आये तो देखा कि तोता अपने दोनों पंजे चोंच पर रखे हुए है। तोते को सम्बोधित करके और वास्तव में अपनी स्त्री को सुनाकर वे कहने लगे—"मियाँ तोते, तुम्हारे तो कोई बीवी-बच्चे हैं नहीं, तुम क्यों सिर पकड़े बैठे हो?"

एक बार उनके कोई मित्र उनके यहाँ आये तो वे भी शिष्टाचार के लिए उनके घर गये। किसी ने राह में पूछा कि "कहाँ जा रहे हो?" उत्तर दिया कि "मुझे मीर साहब का एक 'आना' देना है।"

'ग़ालिब' के शागिर्दों (शिष्यों) में ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसेन 'हाली' ने बहुत नाम पैदा किया, क्योंकि वे उर्दू-कविता में एक नवीन शैली के प्रवर्तक हुए हैं। वे उर्दू-गद्य के भी प्रसिद्ध लेखकों में थे। फ़ारसी में इनके सर्व प्रसिद्ध शिष्य मुन्शी हरगोपाल तुफ़्ता' थे। उर्दू में केवल 'ग़ालिब' ही एक ऐसा कवि है कि जिसके दीवान की व्याख्या में कई पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। इस छोटी-सी पुस्तक में 'ग़ालिब' की शैली पर अधिक नहीं लिखा जा सकता और न 'ग़ालिब' तथा 'ज़ौक़' की पारस्परिक चोटों का वर्णन ही किया जा सकता है। 'ग़ालिब' का फ़ारसी-कविता में क्या स्थान है यह हमारी इस पुस्तक के विषय से बाहर है।

इनका जन्म सन् १७९७ में और देहान्त सन् १८६९ में हुआ था।

हास्य-रस

उर्दू में हास्य-रस का प्रथम प्रवर्तक मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' को माना जाता था, जिनका वर्णन पिछले किसी अध्याय में हो चुका है। 'सौदा' की रचनाओं में अश्लीलता बहुत है, परन्तु वह 'हज्व' (व्यंग) के बादशाह माने जाते हैं। 'सौदा' के बाद 'नज़ीर' अकबराबादी का नाम आता है। 'नज़ीर' की कविता में भी जगह-जगह अश्लीलता पाई जाती है। यों तो 'सौदा' की भाषा क्लिष्ट है और उनके क़सीदों में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य है, परन्तु जब वे व्यंग पर आते हैं तो साधारण भाषा ही लिखने लगते हैं। इन्होंने पहेलियाँ भी लिखीं, जो हिन्दी में भी प्रचलित हैं। उनकी हुक्के की यह पहेली कितनी सुन्दर है :

नीचे थाके तवा भयो, ऊपर लागी आग।
पानन लागी धौंकनी, निकसन लागे नाग॥

अक्सर तवाइफ़ों की मोरी पै भीगते हैं !

और 'मूतना' शब्द तो उनके यहाँ बार-बार आया है। सैयद इन्शा का नाम इन दोनों के बाद आता है। इनके यहाँ भी अश्लीलता के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनको यहाँ लिखा नहीं जा सकता। इनका एक मतला देखिये :

यह जो महन्त बैठे हैं, राधा के कुण्ड पर,
औतार बनके गिरते हैं, परियों के झुण्ड पर।

इसी ग़ज़ल में एक शैर है :

राजा जी एक जोगी के बालक पै मर गए,
आई तबीयत आपकी किस रुण्ड-मुण्ड पर।

कहते हैं कि एक बार इनसे कहा गया कि अली नक़ी खाँ की मसजिद पर कविता लिखिये। किसी बेतुके मुसाहब (दरबारी) ने बेतुका मिसरा दिया :

'मसजिद अली नक़ी ख़ाँ बहादुर की'

इन्होंने भी बेतुका मिसरा लगा दिया और यह शैर यों पूरा कर दिया :

न तान की, न सुर की, कही है किसी लुर की,
मसजिद अली नक़ी ख़ाँ बहादुर की।

सैयद इन्शा के चुटकुले भी बहुत प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार नवाब आसफ़ुद्दौला ने उनके सिर पर एक चपत जमा दिया, क्योंकि वे पगड़ी उतारकर खाना खा रहे थे जब कि उस समय बादशाह के साथ खाना खाने वाले टोपी या पगड़ी नहीं उतारते थे। इन्होंने पगड़ी सिर पर रखते हुए कहा कि "हुज़ूर, बुज़ुर्गों ने सच कहा है कि नंगे सिर खाना न खाओ, नहीं तो शैतान वार करता है।" कुछ दिन तक तो इनका काम ही दरबार में चुटकुले सुनाना था। कहते हैं कि यह जो सावन का गीत है :

अगला फूलै बगुला फूलै
सावन मास करेला फूलै

वे अपनी कविताओं में हिन्दुओं को गाय और मुसलमानों को ऊँट लिखते हैं। जब सर सैयद अहमद खाँ के कहने पर मुसलमान अंग्रेजों का सहारा लेने लगे तो इन्होंने लिखा :

ऊँट ने गायों की ज़िद पर, शेर को साक्षी किया,
फिर तो मेंढक से भी बत्तर सबने पाया ऊँट को।

सैयद अकबर हुसेन सरकारी नौकर थे। वे बहुत दिनों तक आगरा में जज रहे थे। इसलिए ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध स्पष्ट तो लिख नहीं सकते थे; परन्तु उन्होंने चोटें बहुत कीं। वे लिखते हैं :

यह बात ग़लत कि मुल्के इस्लाम है हिन्द,
यह झूठ कि मुल्के लछमनो-राम है हिन्द।
हम सब हैं मुती ओ ख़ैर ख़्वाहे ब्रिटिश,
यूरोप के लिए बस एक गोदाम है हिन्द।

एक और जगह वे लिखते हैं :

नाक रखते हो तो तेग़े तेज से डरते रहो,
ख़ैरियत चाहो तो हर अंगरेज़ से डरते रहो।

सर सैयद का आन्दोलन उन्हें पसन्द न था। अलीगढ़-मुस्लिम-कालिज के विरुद्ध उन्होंने बहुत-कुछ लिखा। उनकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

सैयद उट्ठे जो गज़ट लेके, तो लाखों लाये,
शेख़ क़ुरान दिखाते फिरे, पैसा न मिला।
रंग चेहरे का तो कालिज ने भी रक्खा क़ायम,
रंगे बातिन में मगर बाप से बेटा न मिला।

उनकी एक कविता है :

चिपकूँ दुनिया से किस तरह मैं,
औरत ने कहा गोंद हूँ मैं।
चन्दे ने कहा कहाँ समाऊँ,
कालिज ने कहा कि तोंद हूँ मैं।

एक ऐसा ही शैर और है :

चर्ख़ ने पेशे कमीशन कह दिया इज़हार में,
क़ौम कालिज में और उसकी ज़िन्दगी अख़बार में।

परन्तु सर सैयद के मरने पर इनको भी दुःख हुआ था, उस समय उन्होंने जो कविता लिखी थी उसका पहला शैर यह था :

हमारी बातें-ही-बातें थीं सैयद काम करता था,
न भूलो फ़र्क़ जो है कहने वाले करने वाले में।

इन्होंने अंग्रेजी-सभ्यता पर भी बहुत-कुछ लिखा। कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

बहुत शौक़ अंग्रेज बनने का है,
तो चेहरे पै पहले गिलट कीजिये।

एक स्थान पर वे लिखते हैं :

दब गई आख़िर मुसलमानी मेरी पतलून में

उन्होंने हिन्दुओं पर भी खूब चोटें की थीं। उन्होंने लिखा था :

गांधी की गाय का तो कुछ ठिकाना हो गया,
शेख़ जी का ऊँट देखें बैठता है कौन कल ?

इन्होंने अपने लड़के तक को नहीं छोड़ा। ख्वाजा इशरत हुसेन इनके सुपुत्र थे। विलायत में परीक्षा पास करने के पश्चात् भी जब वे लन्दन में ही ठहरे रहे तब इन्होंने कई कविताएँ लिखीं। जिनमें से एक यह है :

इशरती हिन्द की लन्दन में अदा भूल गए,
केक को खाके सिंवइयों का मजा भूल गए।
मोम की पुतलियों पर ऐसी तबीयत आई,
चमने हिन्द की परियों की अदा भूल गए।

अन्तिम शैर बड़े ग़ज़ब का है :

क्या ताअज्जुब है जो बच्चों ने भुलाई तहज़ीब,
जब कि बूढ़े रविशे दीने ख़ुदा भूल गए।

'अकबर' ने अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बहुत किया है, और कविता की

प्रचीन प्रणाली को बहुत-कुछ बदला है। उर्दू के इतिहास में इनकी अपनी अलग जगह है। अमीर खुसरो के यहाँ भी हास्य-रस बहुत पाया जाता है। परन्तु उसका वर्णन इसलिए नहीं किया गया, क्योंकि उस समय तक उर्दू भाषा नहीं बनी थी।

कहानी और उपन्यास

कहानी—यों तो उर्दू में कहानी-लेखन का आरम्भ सन् १८०० के लगभग हो चुका था। फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली पुस्तकों और सैयद इन्शा की कहानी की पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी' का वर्णन पहले हो चुका है। परन्तु यह पुराने ढंग की कहानियाँ हैं। नवीन शैली १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुन्शी बालमुकुन्द गुप्त ने आरम्भ की। 'अवध अखबार' और 'अवध पंच' में भी कुछ कहानियाँ छपती रहीं। मेरठ के मौलवी मुहम्मद इस्लाम ने बच्चों के लिए कहानियाँ लिखीं। सच पूछिये तो समय उपन्यासों का था, जिनके कारण पण्डित रतननाथ 'सरशार' और मौलवी नजीर अहमद लखनऊ और दिल्ली में पर्याप्त प्रसिद्ध हुए। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में कानपुर से 'ज़माना' अखबार का प्रकाशन हुआ, जिसमें मुन्शी प्रेमचन्द (जिनका वास्तविक नाम मुन्शी धनपतराय था) 'नवाबराय' के नाम से कहानियाँ लिखते थे। उस समय कौन जानता था कि यह नवयुवक इतना नाम पायगा कि डॉक्टर रवीन्द्रनाथ टाकुर तक उसकी प्रशंसा करेंगे। अभी तक मुन्शी प्रेमचन्द उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक माने जाते हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द के जीवन में ही कृष्णचन्द्र एक लेखक के रूप में उभरने लगे थे। उनकी सबसे पहली पुस्तक 'हवाई किले' के नाम से प्रकाशित हुई। डॉ० मुहम्मद तासीर ने कृष्णचन्द्र की पुस्तक पर भूमिका लिखते हुए यह लिखा था कि "मुन्शी प्रेमचन्द अब भी खुदाए अफ़साना हैं।" मुन्शी प्रेमचन्द और कृष्णचन्द्र की शैली तथा भाव में बड़ा अन्तर रहा। मुन्शी प्रेमचन्द का ध्येय गान्धीवाद है, और कृष्णचन्द्र प्रगतिशील कहलाये

जाने वाले वर्ग के सर्वश्रेष्ठ जीवित कहानी-लेखक हैं। यों तो मुन्शी प्रेमचन्द को भी खींच-तानकर प्रगतिशील बनाया जा रहा है। कहते हैं कि अपनी अन्तिम अवस्था में वे गान्धीवादी नहीं रहे और प्रगतिशील हो गए; परन्तु मुझसे सन् १६३६ में जामिया में जो उनकी बातचीत हुई थी उससे मैं कह सकता हूँ कि अन्त तक वे गान्धीवादी ही थे। सैयद एहतेशाम हुसैन ने उनके 'हंस' के अन्तिम लेख से भी यही सिद्ध किया है कि मुन्शी प्रेमचन्द बदले नहीं थे। सच तो यह है कि उर्दू के कहानी-क्षेत्र में यदि शरच्चन्द्र चटर्जी का कोई जवाब है, तो वह प्रेमचन्द है।

कृष्णचन्द्र से प्रगतिशील कहानी-लेखकों की जो शैली आरम्भ हुई उसमें आज बहुत-से लेखक दिखलाई देते हैं। राजेन्द्रसिंह बेदी, सआदत-हसन मिण्टो, फ़िक्र तौंसवी, देवेन्द्र सत्यार्थी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और रेवतीसरन आदि सब ही इसी शैली के चमकते सितारे हैं। स्त्रियों में मुमताज 'शीरीं', इस्मत चुग़ताई और स्वालिहा आबिद हुसैन विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से इस्मत चुग़ताई का 'लिहाफ़' और सआदत हसन मिण्टो का 'ठण्डा गोश्त' बहुत अश्लील हैं। 'लिहाफ़' जब्त हो गया और 'ठण्डा गोश्त' पर मिण्टो को सजा हो गई। ख्वाजा अहमद अब्बास उर्दू के प्रसिद्ध लेखक हैं और अंग्रेजी के भी।

उर्दू में हास्य-रस के कहानी-लेखकों में मिर्जा फ़रहत अल्ला बेग ने, जो मौलवी नजीर अहमद के शिष्य थे, बहुत नाम पाया। लखनऊ में शौकत थानवी की ख्याति 'स्वदेशी रेल' से आरम्भ हुई। मिर्जा अजीम बेग़ चुग़ताई अन्त में मुन्शी प्रेमचन्द की भाँति हिन्दी में लिखने लगे। शौकत थानवी अब पाकिस्तान में हैं। मिर्जा अजीम बेग चुग़ताई कई वर्ष तक क्षय रोग में पीड़ित रहकर दयनीय दशा में मरे। जिस प्रकार मुन्शी प्रेमचन्द अपनी कहानियों के द्वारा गांधीवाद का प्रचार कर रहे थे। उसी प्रकार शौकत थानवी ने स्वराज्य-आन्दोलन और गान्धीवाद का उपहास किया, जिसका एक नमूना उनकी 'स्वदेशी रेल' कहानी है। फ़रहत अल्ला बेग अपनी कहानियों में नई सभ्यता पर चोटें करते हैं।

आज कहानी-लेखन की नवीन शैली प्रगतिशील कहलाये जाने वाले दल के हाथ में है। वर्तमान रूढ़ियों को तोड़ने के लिए अश्लीलता से भी सहायता ली जाती है। कृष्णचन्द्र ने पिछले महायुद्ध के समय में जो कहानियाँ लिखीं उनमें अमरीकनों और अंग्रेजों की बहुत प्रशंसा पाई जाती है, क्योंकि उस समय रूस और अंग्रेज साथ थे। इन्होंने भी कांग्रेस और गांधीवाद का जी-भरकर मजाक उड़ाया है। जब रूस और अंग्रेज अलग हो गए तो यह फिर साम्राज्य-विरोधी कहानियाँ लिखने लगे। यही हाल इनके सारे दल का है। कौसर चाँदपुरी, अब्दुल लतीफ़ और रशीद अहमद सिद्दीकी का हास्य-रस साहित्यिक ढंग का होता है। आज के उर्दू-साहित्य में, विशेषतः आज के कहानी-लेखकों पर साम्यवाद की छाप है।

उपन्यास—यह कहना कठिन है कि उर्दू में प्रथम उपन्यास-लेखक पंडित रतननाथ 'सरशार' हैं या मौलवी नजीर अहमद। लखनऊ वाले पंडित जी को और दिल्ली वाले मौलवी साहब को प्रथम उपन्यास-लेखक मानते हैं। बातें दोनों ही ठीक हैं। उपन्यास लिखना तो पंडित रतननाथ 'सरशार' ने पहले आरम्भ किया। 'फ़िसानए आजाद' के भाग 'अवध अखबार' में छपते थे। परन्तु पहला उपन्यास मौलवी नजीर अहमद ने ही छापकर प्रकाशित किया। मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' लखनवी के उपन्यासों में साम्प्रदायिकता बहुत है। जगह-जगह उन्होंने हिन्दुओं और ईसाइयों पर चोटें की हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द के सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'चौगाने हस्ती' (रंगभूमि) और 'मैदाने अमल' (कर्मभूमि) हैं। कृष्णचन्द्र का उपन्यास 'शिकस्त' सबसे प्रसिद्ध है। शौकत थानवी के 'बकवास' में नये और पुराने रंग को मिलाने का प्रयत्न किया गया है।

आलोचना

उर्दू में आलोचना का नया रूप पश्चिम से आया। पहले यह होता था कि जिस कवि की प्रशंसा करने पर आये उसकी तारीफ़ के पुल बाँध दिए, और जिसकी निन्दा की उसको बिलकुल ही तुच्छ सिद्ध कर दिखाया। 'मीर'

और 'सौदा, 'आतिश' और 'नासिख़, 'अनीस' और 'दबीर', 'दाग़' और 'अमीर' ने आपस में एक-दूसरे को तो इतना बुरा-भला नहीं कहा जितना 'मुसहफ़ी' और 'इन्शा' ने। परन्तु इनके शिष्यों ने एक-दूसरे की निन्दा करने में कोई कसर न छोड़ी। तुलनात्मक दृष्टि से कविताओं को देखने वाले पिछली शताब्दी तक बहुत कम मिलते हैं। 'ग़ालिब' ने जिस प्रकार उर्दू-कविता और उर्दू-गद्य का नया ढंग निकाला उसी प्रकार उनके यहाँ आलोचना के वर्तमान रूप के प्रथम चिह्न भी पाये जाते हैं। पिछले समय की आलोचना अधिकतर शब्दों पर हुआ करती थी, भावों पर नहीं। जैसे सैयद इन्शा ने लिखा :

> तोड़ूँगा ख़ुमे बादए अंगूर की गरदन,
> रख दूँगा वहाँ काट के एक हूर की गरदन।

इस पर 'मुसहफ़ी' यों अलोचना करते हैं :

> गरदन का सुराही के लिए ज़ेब है नादाँ,
> बेजा है ख़ुमे बादए अंगूर की गरदन।

सैयद इन्शा से जब इस आलोचना का कोई उत्तर न बन पड़ा तो उन्होंने शेख़ मुसहफ़ी पर, जो बूढे थे, यह फब्ती कसी :

> मुँह अपना अगर आइने में देखे कभी शेख़,
> सिर लोन का, मुँह प्याज का, अमचूर की गरदन।

वास्तविक आलोचना इस फब्ती में दबकर रह गई।

पिछली शताब्दी में 'ग़ालिब' के बाद मुन्शी सज्जाद हुसेन ने 'अवध पंच' में और 'हाली', 'आज़ाद' तथा शिबली ने आलोचना को वर्तमान रूप दिया। वर्तमान शताब्दी में मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' का नाम प्रारम्भिक काल में उल्लेखनीय है। पंजाब में मौलाना ज़फ़रअली ख़ाँ भी अच्छे थे, परन्तु अब उनकी लेखनी में वह ज़ोर नहीं है।

पहले आलोचना कवि पर की जाती थी फिर कविता के शब्दों पर। परन्तु वर्तमान रूप में यह आलोचना कविता के भावों पर होती है। नया आलोचक इस पर विशेष ध्यान नहीं देता कि कवि ने क्या कहा है या कैसे

कहा है, बल्कि उसकी यह खोज होती है कि ऐसा क्यों कहा है ?

उर्दू में प्रारम्भिक काल में राजाओं और नवाबों को प्रसन्न करने के लिए कविता होती थी, इसीलिए आलोचना भी उसी ढंग की थी। नवाब साहब ने या बादशाह ने जिस कवि को पसन्द किया उनके दरबारियों या इर्द-गिर्द के साहित्यकारों ने उसे सर्वश्रेष्ठ कवि कहना आरम्भ कर दिया। बादशाह जिससे अप्रसन्न हुआ उसकी ख्याति भी धूल में मिल जाती थी। परन्तु सामन्तशाही का युग समाप्त होने के पश्चात् कविता का भी रूप बदला और आलोचना का भी। राजनीतिक धाराओं का आलोचनाओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य को जब जीवन का एक अंग समझा जाने लगा तो साहित्य की आलोचना सामूहिक जीवन की आलोचना से सम्बन्धित हो गई।

'मजनूँ' और 'फ़िराक़' गोरखपुरी ने अपनी कविता तो प्राचीन शैली के अनुसार आरम्भ की परन्तु आलोचना उस समय आरम्भ की जब कि इनकी शैली बदल चुकी थी। 'फ़िराक़' गोरखपुरी ने 'अन्दाज़े' नाम की जो आलोचना-पुस्तक लिखी उसमें शब्दों पर भी आलोचना है और भावों पर भी। 'हाली' के 'मुकद्दमए शेरो-शायरी' का वर्णन पहले हो ही चुका है, इसलिए यहाँ उसका विशेष उल्लेख नहीं किया जा सकता। यहाँ एक बात और भी विशेष उल्लेखनीय है कि 'साहित्य साहित्य के लिए या साहित्य जीवन के लिए' यह वाद-विवाद भी इसी शताब्दी के उदय होने पर आरम्भ हुआ। दोनों ही धाराएँ चल रही हैं, परन्तु आलोचकों में विशेष 'साहित्य जीवन के लिए' मानते हैं। 'स्वान्तः सुखाय' की भावना नहीं रही।

उर्दू के प्रसिद्ध तरुण आलोचक पण्डित राजेन्द्रनाथ 'शैदा' आलोचना के बारे में लिखते हैं :

"हाँ, तो आलोचक का पहला काम साहित्य और साहित्यकार की भावनाओं का अध्ययन है। जैसा कि विदित है कि किसी साहित्य-रचना का अध्ययन करते समय लेखक के विचारों और भावनाओं को ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता। साधारण रूप से तो इस काम में

कोई विशेष कठिनाई दिखलाई नहीं देती, परन्तु वास्तव में कवि या साहित्यकार के मन में डूब जाना बहुत सस्ता काम नहीं, इसके लिए भाषा और शैली के रहस्य पर विचार करना आवश्यक होता है।"

इस कसौटी पर पूरे उतरने वाले थोड़े ही आलोचक मिलते हैं। वयोवृद्ध आलोचकों में भारत में ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' और पाकिस्तान में डॉ० अब्दुल हक़ हैं। 'कैफ़ी' की 'मन्शूरात' और डॉ० साहब की 'तनक़ीदात अब्दुल हक़' साहित्य में प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

लखनऊ-विश्वविद्यालय के मसऊद हसन रिज़वी 'अदीब', सैयद एहतेशाम हुसेन और आले अहमद 'सुरूर' तीनों प्रसिद्ध आलोचक हैं। प्रोफ़ेसर मसऊद हसन रिज़वी की गिनती तो डॉ० अब्दुल हक़ और अल्लामा 'कैफ़ी' के साथ होनी चाहिए। परन्तु सैयद एहतेशाम हुसेन और डॉ० आले अहमद 'सुरूर' नये ढंग के आलोचक और प्रगतिशीलता पर मोहित हैं। सैयद एहतेशाम हुसेन की आलोचना-सम्बन्धी पुस्तकें 'तनक़ीदी जायज़े', 'रवायत या बग़ावत' और 'अदब और समाज' हैं। यह सब द्वितीय युद्धकालीन या उत्तरयुद्धकालीन हैं। यों तो एहतेशाम हुसेन कवि और कहानी-लेखक भी हैं परन्तु उनकी ख्याति एक आलोचक के रूप में अधिक है। एहतेशाम हुसेन हों या आले अहमद 'सुरूर', सज्जाद ज़हीर हों या डॉ० अलीम, अख़्तर अन्सारी हों या राजेन्द्रनाथ 'शैदा' यह सब मार्क्सवादी हैं। मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी और 'माहिर' उलकादरी-जैसे लोग, जो साहित्य को इस रूप में नहीं देखते और जिनमें धार्मिक प्रवृत्तियों की विशेषता है, इनके विरोधियों में हैं। पाकिस्तान में नवीन शैली के सबसे बड़े आलोचक प्रो० मुमताज़ हुसेन हैं। कप्तान फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' का भी नाम उल्लेखनीय है।

नई चेतना का उदय

इस्लामी कवि 'इक़बाल'

यों तो उर्दू में सर्वश्रेष्ठ इस्लामी कविता 'मुसद्दसे मद्दो जज़रे इस्लाम' है, जो 'मुसद्दसे हाली' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें यह बताया गया है कि १९वीं शताब्दी में भारतीय मुसलमानों का कितना पतन हो चुका था; परन्तु उर्दू का सर्वश्रेष्ठ कवि 'इक़बाल' है।

डॉ० सर मुहम्मद 'इक़बाल' थे तो काश्मीर के, परन्तु इनका जन्म स्यालकोट में हुआ था। इनके पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे और इन्होंने इस बात पर गर्व भी किया है कि मैंने ब्राह्मणों का मस्तिष्क और मुसलमानों का हृदय पाया है। डॉ० इक़बाल न केवल बहुत ऊँचे कवि बल्कि बहुत बड़े विद्वान् भी थे। कविता में यह मिर्ज़ा 'दाग़' और 'अरशद' गोरगानी के शिष्य थे, परन्तु उर्दू का सर्वश्रेष्ठ कवि 'ग़ालिब' को मानते थे। 'इक़बाल' को बढ़ावा देने वाले सर अब्दुल क़ादिर थे, जिन्होंने अपनी अन्तिम अवस्था में 'हफ़ीज़' को भी 'हफ़ीज़' बना दिया। पिछली शताब्दी में ही 'इक़बाल' एक अच्छे कवि समझे जाने लगे थे। सन् १८९७ के एक मुशायरे में इनका यह शैर बहुत पसन्द किया गया था :

मोती समझ के शाने करीमी ने चुन लिये,
क़तरे जो थे मेरे अरक़े इनफ़याल के।

अर्थात् मैं अपने पापों पर पश्चात्ताप करते हुए जो रोया तो मेरे आँसुओं को उस प्रभु की दयालुता ने मोती समझकर चुन लिया।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में 'इक़बाल' एक राष्ट्रीय कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए। आज तक उनका वह राष्ट्रीय गान लोकप्रिय है, जिसका पहला शेर है :

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलसिताँ हमारा।

इस कविता में भारत और भारत की सभ्यता पर गर्व किया गया है और यह सन्देश भी दिया गया है कि :

मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना,
हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा।

परन्तु स्वयं 'इक़बाल' ही इसका उत्तर यों देते हैं :

चीनो अरब हमारा, हिन्दोस्ताँ हमारा,
मुस्लिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा।

इस कविता में 'इक़बाल' ने राष्ट्रीयता का जो विरोध किया है वह उनके जीवन के अन्त तक बढ़ता ही चला गया। वे राष्ट्रीयता को पश्चिम की पैदावार कहते थे। उन्होंने लिखा था कि :

मग़रिब के देवतों में, सबसे बड़ा वतन है।

इस्लाम और राष्ट्रीयता को डॉ० इक़बाल परस्पर-विरोधी मानते हैं। एक बार सन् १६३७ में जब मौलाना हुसेन अहमद मदनी ने दिल्ली की एक राष्ट्रीय सभा में राष्ट्रीयता का सन्देश दिया तो 'इक़बाल' ने एक फ़ारसी कविता में इसका विरोध करते हुए लिखा कि यह कैसे लोग हैं जो कहते हैं कि जातीय संगठन राष्ट्रीयता से होता है। आश्चर्य है कि देवबन्द से हुसेन अहमद-जैसा मनुष्य उत्पन्न हुआ।

मौलाना हुसेन अहमद ने इसका उत्तर पूरी एक पुस्तक के रूप में दिया। परन्तु इस पुस्तक के प्रकाशित होने के पहले ही 'इक़बाल' की मृत्यु हो चुकी थी। डॉ० इक़बाल के विचारों से कितना ही मतभेद किया जाय,

परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उनके विचार बहुत गम्भीर थे। उनका मन्तव्य यह था कि इस्लाम राष्ट्रीयता को नहीं मानता। इस्लाम एक सार्वभौम धर्म है, इसलिए वह मनुष्य-मात्र के लिए है। इससे 'इक़बाल' ने यही परिणाम निकाला कि ईरान और अफ़ग़ानिस्तान तथा अरब और तुर्किस्तान का मुसलमान भारत के हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के अधिक निकट है, क्योंकि ऐक्य विचारों के आधार पर होता है, भौगोलिक आधार पर नहीं। इसी विचार को पाकिस्तान की प्रथम रूप-रेखा समझना चाहिए। बात बहुत दूर तक जाती है। 'इक़बाल' और उनके साथी भारतीय सभ्यता-जैसी कोई वस्तु नहीं मानते। वे हिन्दू-सभ्यता और मुस्लिम सभ्यता को अलग-अलग मानते हैं, इसीलिए यदि किसी हिन्दू और मुसलमान के घर की दीवार मिली हुई हो तो विचार न मिलने के कारण वे एक-दूसरे से दूर हैं। और वही मुसलमान विचार मिलने के कारण अरब के एक मुसलमान के निकट है। चाहे उसने कभी उस अरबी मुसलमान को देखा ही न हो। यही मनोवृत्ति पाकिस्तान को जन्म देने वाली है।

कुछ लेखकों ने डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर और डॉ० इक़बाल की तुलना की है, परन्तु इन दोनों में कोई वास्तविक तुलना नहीं है, क्योंकि डॉ० ठाकुर का उद्देश्य शान्ति था और डॉ० इक़बाल का उत्तेजना।

तू शाहीं है बसेरा कर पहाड़ों की चटानों पर

यह मुसलमान के जीवन को इसलिए सादा रखना चाहते हैं कि वह तलवार चला सके और हर समय युद्ध के लिए तैयार रहे। उनकी कविता में प्रायः रण-घोषणा पाई जाती है :

शमशीरो सिना अव्वल, ताऊसो रबाब आख़िर

इसे वे इतिहास का निचोड़ बताते हैं अर्थात् जब जातियों का उत्थान होता है तो खड्ग और खाँडे की धार से, और जब पतन होता है तो गाने-बजाने के साज से। अपनी कविता में जगह-जगह उन्होंने ईरान की सभ्यता की निन्दा की है और अरब की सभ्यता की प्रशंसा।

डॉ० इक़बाल जब तक विदेश में नहीं गए थे उनके विचार पूर्ण रूप से

साम्प्रदायिक नहीं हुए थे; कभी वे राष्ट्रीय कविता लिखते थे और कभी साम्प्रदायिक। परन्तु जब वे बैरिस्टरी पढ़ने के लिए विलायत गये तो उनके विचारों में बड़ा ही परिवर्तन हुआ। एक ओर तो वे पश्चिमी सभ्यता के विरोधी हो गए और दूसरी ओर हिन्दू-सभ्यता के। पश्चिमी सभ्यता में जो आत्म-विहीन भौतिक विज्ञान है वे उसके विरोधी थे। दूसरी ओर वे हिन्दू-सभ्यता में अकर्मण्यता पाते थे। वे कहते थे कि यह विचारों का धर्म है कर्म का नहीं। उनके निकट पश्चिमी भौतिक मार्ग और भारतीय विचार-मार्ग के बीच सीधा और सच्चा मार्ग इस्लाम का ही हो सकता था।

कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं कि 'इक़बाल' के यहाँ साम्यवाद पाया जाता है; जिसके लिए वह ऐसी कविताएँ पेश करते हैं :

उट्ठो मेरी दुनियाँ के ग़रीबों को जगा दो,
काख़े उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
जिस खेत से दहक़ाँ को मयस्सर न हो रोज़ी,
उस खेत के हर ख़ोशये गन्दुम को जला दो।

यह सत्य है कि इसमें साम्यवाद की झलक पाई जाती है, परन्तु 'इक़बाल' उसी सीमा तक साम्यवादी हैं जहाँ तक वे इस्लाम में साम्यवाद पाते हैं। उनका कहना था कि इस्लाम ही सच्चा साम्यवादी है। वे लिखते हैं :

एक ही सफ़ में खड़े हो गए महमूदो अयाज़,
न कोई बन्दा रहा और न कोई बन्दानवाज़।

वे दरिद्रता मिटाना चाहते थे, परन्तु इस्लाम के द्वारा। वे ऐसा मानते थे कि परमात्मा को शुद्ध रूप से मानने वाला ही सच्चा साम्यवादी हो सकता है, क्योंकि वह एकता में विश्वास रखेगा। यह बात मार्क्स के सिद्धान्त के बिलकुल विरुद्ध है। इसलिए रोग की पहचान में तो 'इक़बाल' मार्क्स के साथ में हैं, परन्तु चिकित्सा अलग है।

जगह-जगह 'इक़बाल' ने मुसलमानों को हिन्दू-धर्म के जाल से बचने को कहा। उन्हें इस बात का दुःख था कि भारत के मुसलमान भी हिन्दुओं-

जैसे हो गए। 'हाली' ने भी इस्लाम का वर्णन करते हुए लिखा है :

दहाने में गंगा के आके वह डूबा,

यहाँ 'वह' से मतलब है 'मुसलमान' से।

सन् १९३० में जब 'इक़बाल' आल इण्डिया मुस्लिम लीग के प्रधान हुए तो उन्होंने पहले-पहल अपने भाषण में इस्लामी राज्य स्थापित करने का वर्णन किया, इसलिए सच्चे मानी में इन्हें ही पाकिस्तान का जन्मदाता समझना चाहिए। सन् १९३७ में जब मिस्टर जिन्ना ने द्विजातीय विचार-धारा (Two Nations Theory) पेश की तो उसे 'इक़बाल' ने बहुत सराहा। इसीके एक साल बाद उनका देहान्त हो गया।

'इकबाल' फ़ारसी के भी बहुत बड़े कवि थे और फ़ारसी-कविताओं में भी उन्होंने ऐसे ही विचार पेश किये हैं। वे सूफ़ी धर्म के विरोधी थे और उसे वे मुसलमानों की दुर्बलता का चिह्न मानते थे, क्योंकि उसमें हिन्दू-विचारों की झलक पाई जाती है।

राष्ट्रीय कवि चकवस्त

पण्डित व्रजनारायण चकवस्त सन् १८८४ में उत्तर प्रदेश के जिला रायबरेली में पैदा हुए थे। उनकी शिक्षा लखनऊ में हुई। वहीं उन्होंने अपनी वकालत आरम्भ की और वहीं उनकी कविता का विकास हुआ। पण्डित बिशननारायण दर सन् १९११ में कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के प्रधान रहे और उन्होंने क्षय रोग से पीड़ित होकर सन् १९१७ में पर-लोक-गमन किया। कविता में यह चकवस्त के गुरु थे। पण्डित बिशन-नारायण दर तो 'अब्र' तखल्लुस करते थे, परन्तु चकवस्त साहब ने कोई तखल्लुस नहीं रखा। एक बार इलाहाबाद में अखिल भारतीय मुशायरा हुआ। उसमें चकवस्त साहब न जा सके। उन्होंने जो अपनी कविता भेजी उसका अन्तिम शेर था :

ज़िक्र क्यों आयेगा बज़्मे शोरा में मेरा,
मैं तख़ल्लुस का भी दुनिया में गुनहगार नहीं।

पहले-पहल तो चकबस्त साहब ने काश्मीरी ब्राह्मण-सभाओं में कविताएँ पढ़नी आरम्भ कीं, परन्तु इस शताब्दी के आरम्भ से वह राष्ट्रीय कविताएँ कहने लगे। चकबस्त ने बहुत थोड़ा कहा, परन्तु जो भी कहा वह बहुत अच्छा। उनके जीवन में उनकी कविताओं का कोई संग्रह प्रकाशित न हो सका। उनकी मृत्यु के पश्चात् 'सुबहे वतन' के नाम से उनकी कविताओं का संग्रह निकला। उसकी भूमिका डॉ० तेजबहादुर सप्रू ने लिखी। 'सुबहे-वतन' राष्ट्रीय कविताओं का अनुपम संग्रह है।

चकबस्त की कविता की शैली बहुत-कुछ 'अनीस' से मिलती-जुलती है। 'रामायण' का एक सीन उनका एक मुसद्दस है, जिसमें रामचन्द्र जी के वनवास में ज़ाने का वर्णन है। वह यों आरम्भ होता है :

रुख़सत हुआ वह बाप से लेकर ख़ुदा का नाम,
राहे वफ़ा की मंज़िले अव्वल हुई तमाम।

उर्दू-कविताओं के रसिक धोखा खा सकते हैं कि यह 'अनीस' की कविता है। चकबस्त उस समय तक कांग्रेस में रहे जब तक कांग्रेस पर गान्धी जी नहीं छाए थे। वे नरम दल से सम्बन्ध रखते थे और जब कांग्रेस उग्रवादियों के हाथ में आ गई तो वह एक कविता लिखकर उससे अलग हो गए; जिसका पहला मिसरा था :

परदहाए साज़े क़ौमी बेसदा होने को हैं।

इस कविता में उन्होंने यह चिन्ता प्रकट की है कि उग्रवादियों के हाथों में कांग्रेस का भविष्य सुरक्षित नहीं है। चकबस्त का राजनीतिक ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य था। जैसा उनके एक शेर से विदित होता है :

बरतानियाँ का साया, सिर पर क़ुबूल होगा,
हम होंगे ऐश होगा और होमरूल होगा।

'होमरूल-आन्दोलन' मिसेज़ एनी बेसेण्ट ने चलाया था, जिसका ध्येय ब्रिटिश कामनवेल्थ में रहकर भारत के लिए औपनिवेशक स्वराज्य प्राप्त करना था। एक और जगह वे लिखते हैं :

तलब फ़िज़ूल है काँटों की फूल के बदले,
न लें बहिश्त भी हम होमरूल के बदले।

उस समय होमरूल मिलना भी कठिन प्रतीत होता था। इसीलिए 'अकबर' इलाहाबादी ने लिखा था :

कहते हैं मालवी जी हम होमरूल लेंगे,
दीवाने हो गए हैं गूलर का फूल लेंगे!

चकबस्त ने प्रेम-काव्य बहुत कम किया है। उनके यहाँ शृङ्गार रस नहीं है एवं कर्तव्य-परायणता का सन्देश है। वे देश के नवयुवकों से कहते हैं :

तुम्हें जो करना है कर लो अभी वतन के लिए,
लहू में फिर यह रवानी रहे, रहे, न रहे।

इसी कविता में एक शैर है :

रहेगी आबो-हवा में ख़्याल की बिजली,
यह मुश्ते ख़ाक़ है फ़ानी रहे, रहे, न रहे।

जब महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह-आन्दोलन चलाया और वह आन्दोलन सन् १९१४ में पूरे जोरों पर था तो चकबस्त ने एक कविता लिखी, जो लखनऊ की एक सार्वजनिक सभा में, जिसमें मालवीय जी ने इसी विषय पर भाषण दिया था, स्वयं चकबस्त ने पढ़ी। फिर यह पुस्तक के रूप में अलग प्रकाशित भी हुई, जिसका मुनाफ़ा दक्षिण अफ्रीका वालों की सहायतार्थ चन्दे के रूप में भेजा गया। इस कविता का एक शैर है :

जो चुप रहें तो हवा क़ौम की बिगड़ती है,
जो सर उठायें तो कोड़ों की मार पड़ती है।

भारतीय मजदूरों को जब दक्षिण अफ्रीका में कठिनाइयाँ असह्य हो जाती थीं और वे भारत आना चाहते थे तो आने भी न दिया जाता था। चकबस्त लिखते हैं :

अगर जिये तो तरसते रहे वतन के लिए,
मरे तो लाश पड़ी रह गई कफ़न के लिए।

डॉ० एनी बेसेण्ट जब सन् १९१७ में गिरफ़्तार की गईं तो चकबस्त ने

एक कविता लिखी। उसका पहला शैर था :

क़ौम ग़ाफ़िल नहीं माता तेरी ग़मख़्वारी से,
ज़लज़ला मुल्क में है तेरी गिरफ़्तारी से।

इसी कविता में एक शैर है :

सन्तरी देखके इस जोश को शरमायेंगे,
गीत ज़ंज़ीर की झंकार पै हम गायेंगे।

गोखले की मृत्यु पर चकबस्त ने जो कविता लिखी थी उसका एक शैर यों है :

चाँदनी रात में शब को जो हवा आती है,
क़ौम के दिल के धड़कने की सदा आती है।

चकबस्त की ग़ज़लों में कहीं-कहीं प्रान्तीयता भी पाई जाती है। जैसे वह लिखते हैं :

ज़र्रा-ज़र्रा है मेरे कश्मीर का मेहमाँ नवाज़,
राह में पत्थर के टुकड़ों ने दिया पानी मुझे।

अश्लील कविता का चकबस्त के यहाँ नाम नहीं। वह स्त्री-शिक्षा के पक्ष में अवश्य थे, परन्तु एक कविता में, जिसका पहला मिसरा यह है :

रविशे ख़ाम पै मरदों की न जाना हरगिज़

वे बालिकाओं को उपदेश देते हैं कि पढ़ो और समाज-सुधार करो, परन्तु पश्चिमी सभ्यता का शिकार न हो जाना। वे आगे लिखते हैं :

परदा रुख़ से जो उठाया तो बहुत ख़ूब किया,
परदये शर्म को दिल से न उठाना हरगिज़।

इस कविता का अन्तिम शैर है :

हम तुम्हें भूल गए इसकी सज़ा पाते हैं,
तुम मगर अपने तईं भूल न जाना हरगिज़।

असहयोग-आन्दोलन आरम्भ होने के बाद चकबस्त चुप हो गए और सन् १९२६ में रायबरेली से लखनऊ आते समय रेल में ही उनका देहान्त हो गया। वह गद्य के भी बहुत अच्छे लेखक थे। इनमें और मौलाना 'शरर' में

मसनवी मीर हसन और मसनवी गुलजार नशीन के सम्बन्ध में जो विवाद छिड़ा था वह 'मारकए शरर व चकवस्त' के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ, जो उर्दू-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखता है।

क्रान्ति के कवि 'जोश' मलीहाबादी

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी 'अज़ीज़' लखनवी का यह बड़ा सौभाग्य था कि कविता में उनके शिष्य बड़े ऊँचे दर्जे के निकले। इनमें से सर्वप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ शब्बीर हुसेन 'जोश' मलीहाबादी हैं। यों तो ग़ज़ल कहने में मौलाना 'अज़ीज़' के शिष्य नवाब जाफ़र अली ख़ाँ 'असर' लखनवी भी चोटी के कवियों में गिने जाते हैं, परन्तु भारत में आज 'जोश' मलीहाबादी को सर्वश्रेष्ठ उर्दू-कवि माना जाता है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि मौलाना 'अज़ीज़' के शिष्यों में जगमोहन लाल 'रवाँ' ने रूबाई कहने में बहुत नाम पाया और गुरुशरणलाल 'अदीब' लखनवी ने राजनीतिक कविताओं और विशेषतः राजनीतिक रंग की ग़ज़लों में ख्याति पाई।

'जोश' मलीहाबादी के नाना फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ 'गोया' पिछली शताब्दी में उर्दू के सुप्रसिद्ध कवियों में गिने जाते थे। 'जोश' के पिता भी कवि थे और कविता में 'जलाल' लखनवी के शिष्य थे। कहने का अभिप्राय यह है कि 'जोश' ने कविता के वातावरण में सन् १८९७ में जन्म लिया। यों तो इन्होंने बीस वर्ष की आयु से ही मुशायरों में पढ़ना आरम्भ कर दिया था, परन्तु इनकी ख्याति तीस वर्ष की आयु से हुई। उस समय यह हैदराबाद में थे, जहाँ इन्होंने अपनी कविताओं का प्रथम संग्रह 'रूहे अदब' के नाम से प्रकाशित किया था। यह वह समय था जब चकवस्त मर चुके थे, 'इक़बाल' राष्ट्रीय कवि से इस्लामी कवि बन चुके थे और 'हसरत' मोहानी के साहित्यिक जीवन पर उनका राजनीतिक जीवन छा चुका था। 'अकबर' इलाहाबादी भी परलोक सिधार चुके थे। मौलाना मुहम्मद अली पहले से ही कवि की अपेक्षा राजनीतिक नेता अधिक थे।

'जोश' ने अपनी एक नई राह निकाली। वह 'शायरे-इन्क़लाब'

(क्रान्ति के कवि) के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे 'शायरे शबाब' भी हैं, 'शायरे इन्क़लाब' भी और 'शायरे शराब' भी! वास्तव में उनकी कविता में कई धाराएँ मिलती हैं। आरम्भ में इनकी कविता पुराने ढंग की थी। उस समय इनको इस्लाम धर्म से भी प्रेम था। इन्होंने मुहम्मद साहब की प्रशंसा में एक लम्बी कविता लिखी थी, जो पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई है। परन्तु शनैः-शनैः इनका यह रूप परिवर्तित होता गया। ग़ज़ल की ओर से इन्हें अरुचि उत्पन्न हुई और 'विषय-वासना'-सम्बन्धी कविताओं पर ध्यान केन्द्रित हुआ। 'जोश' ने सामन्ती वातावरण में आँखें खोलीं, जहाँ 'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' का सिद्धान्त था। इसलिए इनकी कविता में शृङ्गार रस का बाहुल्य होना ही था। परन्तु इनकी प्रेयसी कोई एक नहीं है। मौलाना 'हसरत' मोहानी का प्रेम केन्द्रित है और 'जोश' मलीहाबादी का विकेन्द्रित। 'जोश' की 'हाय जवानी, हाय ज़माने' शीर्षक कविता यह प्रकट करती है कि उन्होंने एक से अधिक से प्रेम किया है, उनका प्रेम बहुत ऊँचा भी नहीं है। मलीहाबाद के जागीरदारों की रंगरलियाँ विख्यात हैं। 'जोश' भी उन्हींमें से एक हैं। वे इस बात को छिपाने का प्रयत्न नहीं करते और उनकी अनेक कविताओं से यह विदित होता है कि उन्होंने एक से अधिक फूलों का रस लिया है। वे जानते थे कि बुढ़ापे में जवानी की-सी बात न रहेगी इसलिए उन्होंने प्रार्थना की :

माशूक़ कहें आप हमारे हैं बुज़ुर्ग,
नाचीज़ को वह दिन न दिखाना या रब।

इस भाव को केशव ने भी बहुत सुन्दर रूप में यों दरशाया है :

केशव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहिं॥

'जोश' एक और स्थान पर कहते हैं :

यह ज़हर के घूँट पी रहा हूँ,
चालीस बरस में जी रहा हूँ।

परन्तु उनकी आयु अब ५८ वर्ष की है। इस आयु में भी एक हिन्दी-

कवि के कथनानुसार उनकी यह दशा है :

मन नवीन तन पुरानो, नैनन वही स्वभाव ।
अरी जवानी बावरी एक बार फिर आव ॥

परन्तु यह 'जोश' की कविता का एक रूप है। दूसरी ओर वे दरिद्रों और भूखों से सहानुभूति भी प्रकट करते हैं। इनकी कविता 'भूखा हिन्दुस्तान' बहुत प्रसिद्ध है। एक बार वे किसी स्टेशन पर थे जहाँ एक ओर फर्स्ट क्लास का डिब्बा था और दूसरी ओर एक टूटा हुआ डिब्बा; जिसमें कुछ कुली बैठे हुए थे। इन्होंने एक कविता लिखी, जिसका एक शेर यों है :

इस तरफ़ भी आदमी थे, उस तरफ़ भी आदमी,
उनके जूतों पर चमक थी, उनके चेहरों पर न थी।

इसी कविता में एक मिसरा इस प्रकार है :

जुज़ ख़ुदा इस ज़ुल्म को बरदाश्त कर सकता है कौन ?

'जोश' के यहाँ ख़ुदा पर अनेक चोटें मिलती हैं। वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वर मनुष्य के विचारों से उत्पन्न हुआ है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं :

कि इन्सानी ख़ुदा से बूये इन्सानी नहीं जाती।

एक रूबाई में वे 'अल्लाह' की बेबसी का इस प्रकार वर्णन करते हैं :

ख़ुद को गुम करदा राह करके छोड़ा,
होश को भी तबाह करके छोड़ा।
अल्लाह ने जन्नत में किये लाख जतन,
आदम ने मगर गुनाह करके छोड़ा।

जब कोई प्रार्थना करता है तो यह ताना देते हैं :

अल्लाह तआला से दुआ करते हो,
अल्लाह तआला ! यह उसी की तो है देन।

वह अपनी अनेक कविताओं में भरसक प्रयत्न करते हैं कि किसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क से परमात्मा के अस्तित्व का विचार जाता रहे। सूफ़ियों के बारे में वे कहते हैं :

ख़ुदा को और न पहचानें यह हज़रत,
ख़ुदा के साथ के खेले हुए हैं!

जब ईश्वर नहीं है तो फिर डर किसका? इसीलिए 'जोश' 'खुल खेलने' की बात कहते हैं। और शेखजी पर बहुत फब्तियाँ कसते हैं। वे कहते हैं :

क्या फ़ायदा शेख़ ऐसे जीने में मुझे,
ख़ुश्की में तुझे मजा, सफ़ीने में मुझे।
ऐयाश तो दोनों है, मगर फ़र्क़ यह है,
खाने में तुझे मजा है, पीने में मुझे।

शेखजी की दयनीय दशा का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं :

क्या शेख़ की तल्ख़ ज़िन्दगानी गुज़री,
बेचारे की एक शब न सुहानी गुज़री।
दोज़ख़ के तसव्वुर में बुढ़ापा बीता,
जन्नत की दुआओं में जवानी गुज़री।

'जोश' की कविता का सन्देश है 'खाओ, पियो और मौज करो।'

क्या शेख़ मिलेगा लन्तरानी करके,
तौहीने मिज़ाजे नौजवानी करके।
तू आतिशे दोज़ख़ से डराता है उन्हें,
जो आग को पी जाते हैं पानी करके।

उनका कहना है कि जब जीवन का कोई ठिकाना ही नहीं तो फिर हँस-बोलकर क्यों न दिन बिताये जायँ। कितनी अच्छी रुबाई है :

गुन्चे तेरी ज़िन्दगी पे दिल हिलता है,
बस एक तबस्सुम के लिए खिलता है।
गुन्चे ने कहा यह मुस्कराकर बाबा,
यह एक तबस्सुम भी किसे मिलता है?

'जोश' तमाम प्राचीन रूढ़ियों को मिटा देना चाहते हैं। वे कहते हैं :

नाम है मेरा जवानी, नाम है मेरा शबाब,
मेरा नारा इन्क़लाबो, इन्क़लाबो, इन्क़लाब।

यही नहीं बल्कि यहाँ तक कि :

हड्डियाँ इस कुफ़्रो ईमाँ की चबा जाऊँगा मैं।

वे साम्प्रदायिकता को धर्म की पैदावार मानते हैं, इसलिए कहते हैं :

सर-सर है कोई तो बादे तूफ़ाँ कोई,
ख़ंजर है कोई तो तेग़े बुर्रां कोई।
इन्सान कहाँ है किस कुरे में गुम है,
याँ तो कोई हिन्दू है मुसल्माँ कोई।

जब वे मद्य-निषेध से बिगड़ते हैं तब भी कहते हैं :

बिरहमन शोर करे शेख़े हरम चिंघाड़े,
तेग़ है गरदने सहबा पै रवाँ ए साक़ी।

एक बार 'जोश' साहब जब मेरे घर पर आये, तो उन्हें यह देखकर दुःख हुआ कि पास ही एक मन्दिर है। मैंने कहा कि 'क्या अब भी आप मन्दिरों और मस्जिदों को ढा देने के पक्ष में हैं।' तो बोले—'नहीं! अब मैं उन्हें गिराना नहीं चाहता। शराबख़ाना बनाना चाहता हूँ।' 'जोश' का ऐसा विचार है कि धार्मिक कहलाने वाले मनुष्यों में सौजन्य और उदारता उतनी नहीं होती जितनी शराब पीने वालों में।

जब देश में राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था और जब तक 'जोश' प्रगतिशील दल के प्रभाव में नहीं आये थे तब तक वे राष्ट्रीयता के गान लिखते रहे। उन्होंने मुस्लिम लीग के विरोध में भी कविता लिखी। परन्तु जब वे साम्यवादियों के चक्कर में आए तो मुस्लिम लीग और कांग्रेस को एक ही-जैसा दर्जा दिया। 'जोश' प्रगतिशील हुए तो भी उन्होंने अपना पुराना रंग नहीं छोड़ा। वे दरिद्रों को उठाना भी चाहते हैं साथ ही अपनी रंग-रलियाँ भी जारी रखना चाहते हैं। उन्हें ऐसा नहीं लगता कि यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। वे जीवन की कठिनाइयों से भागना चाहते हैं और भागते-भागते शेख जी से कहते हैं :

तू आवे वज़ू से और मैं पैमाने से

अर्थात् तू दुनिया की कठिनाइयों से नमाज का सहारा लेकर भागता है और मैं शराब का ! देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् उनकी कविता का रंग यह हो गया है कि इस स्वतन्त्रता को नकली स्वतन्त्रता कहा जाय। इनका ही क्या, सारे प्रगतिशील कवियों का ही यही हाल है। 'जोश' की कविता 'मातमे आजादी' इसीकी प्रतीक है, जिसमें वे लिखते हैं :

अब बूये गुल न बादे सबा माँगते हैं लोग,
वह हब्स है कि लू की दुआ माँगते हैं लोग।

यह कुछ भी हो, परन्तु साम्प्रदायिकता के विरोध का जहाँ तक सम्बन्ध है 'जोश' की कविताएँ 'इक़बाल' का भरपूर जवाब हैं।

जहाँ तक शब्दावली का सम्बन्ध है 'जोश' अद्वितीय हैं। उनकी कविता में वह ओज, वह बहाव, वह जोर और शब्दों का वह चमत्कार है, जो इस शताब्दी के किसी और कवि के यहाँ नहीं मिलता।

रूढ़ियों से आगे

सन् १८५७ के ग़दर के बाद देश की जो दशा बदली उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा और ख्वाजा अल्ताफ़ हुसेन 'हाली' के 'मुकद्दमये शेरो-शायरी' ने तो अच्छी खासी क्रान्ति उत्पन्न कर दी। 'हाली' सर सैयद अहमद खाँ के प्रभाव में थे। सर सैयद को विलायत से आने के बाद अंग्रेजों की हर बात सुहावनी लगने लगी थी और भारत की या भारतीय मुसलमानों की प्राचीन प्रणाली उन्हें तनिक भी पसन्द न थी। 'हाली' की पुस्तक में भी उर्दू-साहित्य की प्राचीन या वर्तमान प्रणाली से घोर विरोध था। 'हाली' स्वयं अंग्रेजी के कोई विद्वान् न थे और यही हाल सर सैयद अहमद का था। 'अकबर' ने अपनी एक कविता में लिखा है कि जब बाबू जी ने अच्छी अंग्रेजी जानते हुए भी देखा कि अंग्रेजों में मेरा इतना मान नहीं जितना सर सैयद का है तो इन्होंने सर सैयद से इसका कारण पूछा। सर सैयद का उत्तर कविता के अन्तिम

मिसरे में है। जिसमें वे कहते हैं :

तुम अंग्रेज़ीदाँ हो मैं अंग्रेजदाँ हूँ

'हाली' ने न केवल उर्दू-कविता की शैली से, बल्कि उसकी रूढ़ियों से भी विरोध किया। उन्होंने सरल और उपयोगी कविताएँ लिखने पर जोर दिया।

लखनऊ-स्कूल ने 'हाली' का घोर विरोध किया और 'अवध पंच' में 'हाली' की कविता का उपहास करने के लिए ऐसे-ऐसे शैर लिखे गए :

लट्ठे को खड़ा किया खड़ा है,
हाथी को बड़ा किया बड़ा है।

या

ए आदमीज़ाद सर तुम्हारा,
दोनों कानों के दरमियाँ है।

लखनऊ वालों को ऐसी बातों का बड़ा अभ्यास था। जब शिबली नेमानी ने 'मोआज़नये अनीस व दबीर' लिखा तो उसमें 'दबीर' का दर्जा कम ठहराया। उन्होंने 'दबीर' के मिसरे पर आक्षेप किया, जो यह था :

फ़रमाया मैं हुसेन अलेहुस्सलाम हूँ।

इस मिसरे में 'अलेहुस्सलाम' का अर्थ है—सलाम हो उन पर। यह विदित है कि हुसेन ने जब 'मैं' कहा तो 'अलेहुस्सलाम' कैसे कहते ! परन्तु वास्तव में यह मिसरा 'दबीर' का था ही नहीं, अनीसियों ने उनको बदनाम करने के लिए यों ही उड़ा दिया था। शिबली धोखा खा गए और उस पर आलोचना कर बैठे। लखनऊ के एक नवाब साहब ने शिबली का उत्तर 'रद्देमवाज़ना' नामक पुस्तक में दिया, जिसमें लिखा है कि जैसे मौलाना शिबली ने 'दबीर' का यह मिसरा सुना है वैसे ही हमने सुना है कि शिबली का मिसरा यह है :

मूता जो मेरे यार ने छुल-छुल छुलाके छुल।

मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने, जो 'आबे-हयात' नाम की पुस्तक

के रचयिता थे, उर्दू में कविता का नया ढंग चलाने के लिए मुनाज़िमा आरम्भ कर किया। मुशायरे में तो समस्या दी जाती थी, परन्तु मुनाज़िमे में विषय दिया जाता था। सन् १८७७ में कर्नल हाल राइट के संरक्षण में उर्दू का पहला मुनाज़िमा हुआ। कर्नल हाल राइट उन दिनों पंजाब के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर थे और उस समय दिल्ली पंजाब प्रान्त का ही एक अंग था। इस मुनाज़िमे के संयोजक मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' के साथ मास्टर प्यारेलाल 'आशोब' भी थे। जो दिल्ली-कालिज में उर्दू के प्रोफेसर थे।

'हाली' और 'आज़ाद' का ही नहीं बल्कि डॉक्टर 'इक़बाल' का भी लखनऊ वालों ने बड़ा मज़ाक उड़ाया। 'इक़बाल' की एक ग़ज़ल का मतला है :

> नाला है बुलबुले शोरीदा तेरा ख़ाम अभी,
> अपने सीने में ज़रा और इसे थाम अभी।

इस "ज़रा और इसे थाम" पर लखनऊ वालों ने जाने क्या-क्या कह डाला। और फिर दिल्लगी-दिल्लगी में 'इक़बाल' की ग़ज़ल को 'मुख़म्मस' का रूप दे दिया, जिसका पहला बन्द यह था :

> बेसुरी नग़मा-सराई का न ले नाम अभी,
> मंज़िले इश्क़ में करने हैं बहुत काम अभी।
> कुछ पा जाये जो खा थोड़े से बादाम अभी,
> नाला है बुलबुले शोरीदा तेरा ख़ाम अभी।
> अपने सीने में ज़रा और इसे थाम अभी।

इसी ग़ज़ल में 'इक़बाल' का एक शेर है :

> बेख़तर कूद पड़ा आतिशे नमरूद में इश्क़,
> अक़्ल है महवे तमाशाए लबे बाम अभी।

इस पर 'अवध पंच' ने लिखा कि यह इश्क के साथ 'कूद-फाँद' लगाना 'इक़बाल' का ही काम है। और फिर यह मिसरे लगाये :

कभी मादूम में है और कभी मौजूद में इश्क,
कभी बन्दूक में है और कभी बारूद में इश्क।
मुब्तिला रोज़े अज़ल से है उछल-कूद में इश्क,
बेख़तर कूद पड़ा आतिशे नमरूद में इश्क।
अक़्ल है महवे तमाशाए लबे बाम अभी।

इसी प्रकार 'इक़बाल' की एक बड़ी विख्यात ग़ज़ल का शैर है :

कभी क़िबला रू जो खड़ा हुआ तो हरम से आने लगी सदा,
तेरा दिल तो है सनम आशिना, तुझे क्या मिलेगा नमाज़ में।

इसमें लखनऊ वालों ने "कभी क़िबला रू जो खड़ा हुआ" का बड़ा मजाक उड़ाया। बात यह थी कि लखनऊ वाले शब्दों पर अधिक जोर देते थे और दिल्ली-स्कूल कविता के भावों पर। लखनऊ पर कहाँ तक इसका प्रभाव न पड़ता। आखिर लखनऊ से भी अली हैदर 'नज़्म तबातबाई' ने जो मुन्शी मैंहूलाल 'जार' के शिष्य थे, नई धाराओं का अनुकरण आरम्भ किया। गोल्डस्मिथ के 'डिजर्टेड विलेज' (Deserted Village) का अनुवाद उर्दू-कविता में 'करियये वीराँ' के नाम से किया? इसी प्रकार 'ग्रेज एलेजी' (Gray's Elegy) का अनुवाद 'गोरे ग़रीबाँ' के नाम से किया।

'अवध पंच' एक ओर तो 'हाली' और 'इक़बाल' का उपहास कर रहा था और दूसरी ओर लखनऊ वालों की नये ढंग की कविता भी छापता था। 'अकबर' इलाहाबादी और चकबस्त की कई प्रारम्भिक कविताएँ 'अवध पंच' में ही छपी थीं। लखनऊ और दिल्ली का भेद अन्त में और रूप धारण कर गया। उत्तर प्रदेश और पंजाब के अलग-अलग स्कूल हो गए। यदि भौगोलिक सीमाओं को लिया जाय तो 'हाली' भी पंजाब ही के थे, क्योंकि उनका जन्म पानीपत में हुआ था। आज उन्हीं 'हाली' की यादगार देश के प्रसिद्ध विद्वान् ख्वाजा ग़ुलामुस सैयदेन और उर्दू की प्रसिद्ध लेखिका स्वालिहा आबिद हुसेन हैं।

हिन्दुओं में पं० ब्रजनारायण चकबस्त का नाम तो आ ही चुका है, दूसरा

प्रमुख नाम मुन्शी दुर्गासहाय 'सुरूर' जहाँनाबादी का है, जिन्होंने नये ढंग की कविताएँ लिखीं। अधिक शराब पीने के कारण उनका देहान्त सैंतीस वर्ष की आयु में ही हो गया। मरते समय उन्हें होश था। वे बार-बार शराब माँगते थे। उनका अन्त समय समझकर जब उन्हें गंगा-जल दिया गया तो उन्होंने मरते-मरते यह शेर कहा :

बजाय मय दिया पानी का एक गिलास मुझे,
समझ लिया मेरे साक़ी ने बदहवास मुझे।

उर्दू में राजनीतिक कविताएँ लिखने की शैली शिबली नेमानी ने आरम्भ की। परन्तु देश-प्रेम की सबसे प्रसिद्ध प्रारम्भिक कविता मौलाना 'हाली' की मसनवी 'हुब्बे-वतन' है।

लखनऊ के एक और हिन्दू-कवि मुन्शी द्वारिकाप्रसाद 'उफ़क़' ने गद्य और पद्य दोनों में नाम पाया। उन्होंने नाटक भी लिखे और कविताएँ भी। कर्नल टाड की प्रसिद्ध पुस्तक 'राजस्थान' का अनुवाद भी उन्होंने किया। इनको पंजाब में भी माना गया। इनके सुपुत्र मुन्शी विश्वेश्वरप्रसाद 'मुनव्वर' भी उर्दू के अच्छे कवि और लेखक हैं।

और अब...

ग़दर के बाद उर्दू-कविता में जो परिवर्तन हुआ उसका वर्णन पहले हो चुका है। दूसरा परिवर्तन अलीगढ़-मुस्लिम-कालिज के स्थापित होने के पश्चात् हुआ। बीसवीं शताब्दी में उर्दू-कविता में कई धाराएँ चलने लगीं। 'अकबर' इलाहाबादी ने हास्य-रस के द्वारा प्राचीन प्रणाली की रक्षा का संदेश दिया। 'इक़बाल' राष्ट्रीय कवि से 'शायरे-इस्लाम' बन गए। पं० ब्रजनारायण चकबस्त ने देश के गीत गाये। मौलाना मुहम्मद अली ने नवयुवकों को उभारा। मौलाना 'हसरत' मोहानी ने सच्चे प्रेम का वर्णन किया। 'फ़ानी' बदायूँनी और 'असग़र' गोण्डवी ने निराशा के रंग को और गहरा किया। मौलवी मुहम्मद इस्माईल बच्चों की किताबें लिखते और पढ़ाते सन् १९१७ में स्वर्ग सिधार गए। 'हाली' उर्दू में एक नई धारा चलाकर सन् १९१४

में चल बसे और यही समय शिबली के सिधारने का भी था। 'दाग़' ग़ज़ल में चटपटापन और सफ़ाई पैदा करके सन् १६०५ में परलोकवासी हुए। 'सुरूर' जहाँनाबादी ३७ वर्ष की आयु में सन् १६१० में मर न जाते तो न जाने क्या कुछ होते ? अब हम इस शताब्दी के कुछ जीवित कवियों और साहित्यिकों का वर्णन करेंगे जिनमें से मौलवी अब्दुल हक़ अब पाकिस्तान में 'अञ्जुमन तरक़्क़ी-ए उर्दू' के मन्त्री हैं। इसके अतिरिक्त ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी', जिनका वर्णन एक साहित्यिक के रूप में हो चुका है, कवि भी हैं; इस कारण सर्व प्रथम इन्हींके बारे में कुछ लिखा जाता है—

अल्लामा 'कैफ़ी'—'कैफ़ी' इस समय उर्दू-जगत् के वयोवृद्ध कवियों में से हैं। इनसे अधिक बूढ़े केवल 'बेख़ुद' देहलवी (जो दाग़ के नवरत्नों में से हैं) तथा 'वहशत' कलकतवी हैं। 'कैफ़ी' को साहित्य की सेवा करते ७० वर्ष हो चुके हैं। जिस वर्ष (सन् १८८५ में) कांग्रेस स्थापित हुई थी उसी वर्ष उन्होंने प्रथम राष्ट्रीय कविता कही थी और पिछली ही शताब्दी में अतुकान्त कविता कही। यह कहना कठिन है कि पहली अतुकान्त कविता अल्लामा 'कैफ़ी' की है या मौलवी मुहम्मद इस्माईल की, या 'अकबर' इलाहाबादी की। अल्लामा 'कैफ़ी' ने मौलाना 'हाली' के 'मुसद्दस मद्दो जज़रे इस्लाम' का उत्तर 'भारत-दर्पण' नाम की पुस्तक प्रकाशित करके दिया। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने सन् १६०६ में 'भारत-भारती' की भूमिका में अल्लामा 'कैफ़ी' साहब की इस पुस्तक का वर्णन किया है। 'कैफ़ी' की कविताओं का विशाल संग्रह 'वारिदात' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें हर रंग की कविताएँ पाई जाती हैं। 'कैफ़ी' के यहाँ हिन्दी-शब्दों का भी अच्छा प्रयोग मिलता है। कविता में इनका स्थान ऊँचा अवश्य है, परन्तु इनका अधिक मान गद्य के ही कारण है। 'मन्शूरात' उनके साहित्य-सम्बन्धी भाषणों का संग्रह है, जो उन्होंने कई विश्वविद्यालयों में दिये थे। 'कैफ़िया' इनकी वह पुस्तक है, जिसमें उन्होंने उर्दू-भाषा के व्याकरण और मुहावरों पर प्रकाश डाला है। यह पुस्तकें जब तक उर्दू-साहित्य में विद्यमान हैं अल्लामा 'कैफ़ी' को अमर रखेंगी।

ज़रीफ़—इलाहाबाद में 'अकबर' हास्य-रस की कविताएँ लिख रहे थे, तो लखनऊ में 'ज़रीफ़'। 'अकबर' ने जितना नाम पाया उतना 'ज़रीफ़' ने नहीं। क्योंकि 'ज़रीफ़' के यहाँ सन्देश नहीं, परन्तु इन्होंने भी अच्छी चोटें की हैं। जब प्रथम महायुद्ध (सन् १६१४) हो रहा था तो इन्होंने एक कविता लिखी थी, जिसका पहला मिसरा है :

हम लोग हैं अफ़यूनी जब रंग जमा देंगे।

इस कविता में भारतवासियों के निहत्थे होने का कितना अच्छा वर्णन है :

इतने तेरे ढेले हम मारेंगे अबे जर्मन,
ख़ाकी तेरी वर्दी को मिट्टी में मिला देंगे।

सन् १६१५ में लखनऊ में जब बाढ़ आई तो वाटर-वर्क्स ख़राब हो गया था, उस समय सैयद नबीउल्ला (जो काणे थे) लखनऊ-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन थे। हिन्दुओं ने म्युनिसिपैलिटी का बहिष्कार कर रखा था, इसलिए कोई हिन्दू उसका मेम्बर न था। अब ज़रा 'ज़रीफ़' साहब की कविता के शेर पढ़िये :

कमी पानी की वाटर वर्क्स में दरिया में तुग़यानी,
कहाँ तक चुप रहें जब सर से ऊँचा हो गया पानी।
मुसलमाँ और हिन्दू शहर की दोनों ही आँखें थे,
कि जिनसे देखने में शहर को होती थी आसानी।
इधर एक आँख बैठी, दूसरी कमज़ोर है देखो,
हमारे शहर की मोनूसिपल्टी हो गई कानी।

भी। 'जाफ़री' दूसरे प्रसिद्ध कवियों की 'पैरोडी' लिखते हैं। इन्होंने कई कविताएँ ऐसी कही हैं जिनमें भारत और पाकिस्तान दोनों पर चोटें हैं।

'रोशन' देहलवी—दिल्ली में हास्य-रस के प्रमुख कवि श्यामलाल 'रोशन' हैं। इनके यहाँ कोई संदेश नहीं है, परन्तु शब्दों का चमत्कार अच्छा है।

हास्य-रस की बात तो हो चुकी। उर्दू-साहित्य पर शुद्धि-संगठन और 'तञ्जीम-तवलीग़' का यह प्रभाव पड़ा कि हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के सम्प्रदाय और एक-दूसरे के धर्म के विरुद्ध कविताएँ लिखने लगे। क्या गद्य और क्या पद्य सब जगह यह व्यंग अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया। जब महात्मा गांधी सन् १९३१ में गोल मेज़-कान्फ्रेंस से निराश होकर भारत लौटे तो लाहौर के 'इन्क़लाब' ने लिखा था :

'ख़ैर से बुद्धू घर को आये'

एक और मुस्लिम-कवि हिन्दुओं को सम्बोधित करके लिखता है :

मुस्लिम जिन्हें कहते हैं वह दामाद हैं, दामाद,
ससुराल में दामाद सताना नहीं अच्छा।

हिन्दुओं की ओर से महाशय नानकचन्द 'नाज़' आदि भी ऐसे ही उत्तर देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९१९ में महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन चलाने पर उर्दू में राष्ट्रीय कविता की जो नई धारा चली थी वह यदि समाप्त नहीं हुई तो धीमी अवश्य पड़ गई। मौलाना ज़फ़र-अलीख़ाँ का तो कभी ठिकाना ही नहीं रहा। कभी वह राष्ट्रीय कविताएँ लिखते थे और कभी साम्प्रदायिक। उनके यहाँ अश्लीलता भी आ जाती है। उनकी राष्ट्रीय कविता और साम्प्रदायिक कविता की अश्लीलता का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। मौलाना ज़फ़रअलीख़ाँ राजनीतिक आन्दोलन में जेल में थे। सर सुन्दरसिंह उस समय जेल-विभाग के मन्त्री थे। वे जब जेल देखने गये तो मौलाना से भी मिले और हँसकर कहने लगे कि यहाँ कोई कविता कही हो तो सुनाओ। मौलाना ने कहा कि यहाँ कविता क्या हो सकती है एक 'क़िता' कहा है वह सुनाता हूँ :

हो चुके ख़ित्तये पंजाब के सब लीडर क़ैद,
मशविरे के लिए बुलवाये गए सुन्दरसिंह।
जब गवरमिएट ने पूछा कि किसे अब पकड़ें,
तो यह बोले—'अभी बाक़ी है महादेव का लिंग।'

इसी प्रकार उनकी साम्प्रदायिक कविता की अश्लीलता देखिये :

मुसल्माँ की तहमत का है सूत सादा,
है माता की सारी पै गोटा-किनारी।
मिले हुस्न की भीख इस बे-नवा को,
कि काबूस है तेरे दर का पुजारी।

दैनिक 'तेज' ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि माता से हुस्न की भीख माँगना मौलाना ज़फ़रअलीख़ाँ का ही हिस्सा है।

परन्तु यह धारा प्रगतिशील कवियों और लेखकों के मैदान में आने पर धीमी पड़ी। पाकिस्तान बनने के बाद एक बार फिर यह लहर कुछ तेज हुई, परन्तु अब वह ज़ोर नहीं। प्रगतिशील लेखकों ने, चाहे वह गद्य के हों या पद्य के, उर्दू-साहित्य में एक नये युग का आरम्भ किया। इसका वर्णन हम आगे की पंक्तियों में करेंगे।

प्रगतिशील कविता और प्रेम

उर्दू में ग़ज़ल के कवि, चाहे वे छोटे हों या बड़े, अधिकतर लकीर के फ़क़ीर थे। अरबी का अनुकरण करने वाले तो थोड़े ही थे परन्तु फ़ारसी का अनुकरण करने वाले बहुत हुए। और उनमें भी अधिक वे छोटे-छोटे कवि, जो बड़े-बड़े कवियों का अनुकरण करते थे। जहाँ तक आन्तरिक भावों का सम्बन्ध है उर्दू में थोड़े ही कवि हुए हैं। एक मोटा-ताज़ा कवि जब अपनी कविता में यह कहता है कि मैं तेरे प्रेम में घुलकर काँटा हो गया हूँ या घुट-घुट कर कोई कवि यह कहता है कि मैं जंगल की ख़ाक छान रहा हूँ तो विदित होता है कि उसमें वास्तविकता नहीं। एक बात और ध्यान में रखने की है, उर्दू-कविता का विकास ऐसे समय में हुआ जब मुसल-

राज्य का दिया टिमटिमा रहा था। इसलिए विरह-वेदना के रूप में सामाजिक वेदना भी प्रकट होती है। यही कवि बादशाह के दरबार में बैठकर हँसता और हँसाता था और जब घर में बैठकर ग़ज़ल लिखता था तो उसमें वेदना होती थी। अधिकतर कवियों के यहाँ हार्दिक भाव न होने के कारण कहीं उनका प्रेम स्त्री से है और कहीं पुरुष से; जिसके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। एक और बात, जो समाज के रूप से सम्बन्ध रखती है, यह है कि जिस समय उर्दू-कविता का आरम्भ या विकास हुआ उस समय पर्दे का बहुत ज़ोर था। विशेषकर उस समाज में, जिससे कवियों, राजाओं, नवाबों और उनके दरबारियों का सम्बन्ध था। अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ पर्दे की प्रथा उठने लगी, इसलिए 'अकबर' ने लिखा :

ख़ालिदा चमकी न थी इंगलिश से जब बेगाना थी,
अब है शमए अन्जुमन पहले चिराग़े ख़ाना थी।

अंग्रेज़ी राज्य से पहले यह 'शमए अन्जुमन' कोई नाचने या गाने वाली स्त्री हुआ करती थी, जिससे बहुतों को प्रेम होता था (यदि उसको प्रेम कहा जा सकता है)। कहीं-कहीं पर्दा करने वालों से भी प्रेम का परिचय मिलता है। इसका वर्णन अधिकतर तो मसनवियों में है, परन्तु कहीं-कहीं ग़ज़लों में भी पाया जाता है। नवाब मिर्ज़ा 'शौक़' की मसनवियाँ इस सम्बन्ध में बहुत प्रसिद्ध हैं और उनकी मसनवियों में भी विशेषतः 'ज़हरे इश्क़'। ग़ज़लों में कहीं-कहीं ऐसे शेर मिलते हैं :

शबे विसाल में अल्लाह री उनकी घबराहट,
पलट-पलट कर वह घूँघट सहर को देखते हैं।

घूँघट से भी अधिक नक़ाब का वर्णन आता है। मुन्शी महाराजबहादुर 'बर्क़' देहलवी कहते हैं :

कहाँ वह छेड़ किसी गोशये नक़ाब के साथ,
गई शबाब की रंगीनियाँ शबाब के साथ।

और पिछली शताब्दी की ग़ज़लों में तो नक़ाब का वर्णन बार-बार आता है।

वह समाज बदला। कन्याओं की शिक्षा आरम्भ हुई। दबे-छुपे यह भी माना जाने लगा कि कन्याओं को भी किसी से प्रेम करने का अधिकार है। शिक्षा के बढ़ने के साथ-साथ घूँघट और नक़ाब भी उठने लगा। भारत के मुस्लिम नागरिकों में तो खैर अभी तक यह प्रथा प्रचलित है, परन्तु तुर्की और ईरान में तो पर्दा बिलकुल ही उठ चुका है। इसलिए ईरानी कविता में नक़ाब का अब कोई वर्णन नहीं होता है। शौकत थानवी की 'बकवास' की नायिका नमाज़ तो पढ़ती है परन्तु पर्दा नहीं करती। समाज में यह परिवर्तन होने के कारण प्रेम-काव्य में भी परिवर्तन हुआ। अब लड़कियों का नाम ले-लेकर कविताएँ लिखी जाने लगीं। कविता ही नहीं गद्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 'मजनूँ' गोरखपुरी 'नाहीद' को पत्र में लिखते हैं कि :

> नाहीद! अब मेरे क़ुवा मुज़्महिल हो चुके हैं,
> अब मैं तुम्हारे आग़ोश में पनाह लेना चाहता हूँ।

समाज का विकास होने के कारण, रोना-धोना भी कम होने लगा है और विरह की व्याकुलता के साथ-साथ पुनर्मिलन के गीत भी मिलने लगे हैं। इसे विदेशी साहित्य का प्रभाव भी कहा जा सकता है। विदेशी प्रभाव ने जैसे हमारे समाज को बदला है वैसे ही उसने हमारी कविता को भी बदला, परन्तु हम बहुत धीरे-धीरे बदलने वाले लोग हैं।

प्रगतिशील कवियों ने प्रेम का रूप बदला। अब वह प्रेम केन्द्रित नहीं रह गया। केन्द्रित तो वह सामन्तशाही युग में भी नहीं था। परन्तु अब प्रेम के विकेन्द्रित होने पर गर्व किया जाने लगा, जो पहले नहीं किया जाता था। प्रेम और विलास-वासना के बीच की सीमाएँ टूटने लगीं। जब 'जोश'-जैसा कवि भी प्रेम को 'जिन्सी मैलान' कहता है तो और का कहना ही क्या? पहले प्रेमी झुकता था और दूसरी ओर से नाज़-नखरे होते थे, परन्तु अब यह दशा हुई कि :

गोरखपुरी और 'अख़्तर' शीरानी के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनके यहाँ पंडित राजेन्द्रनाथ 'शैदा' के शब्दों में "रूमानी शायरी का नया मोड़ दिखाई देता है।"

यह प्रगतिशील कवि एक ओर तो समाज को बदलना चाहते हैं, दूसरी ओर प्रेम की लगाम भी ढीली कर लेते हैं। और उन्होंने जीवन का जो रहस्य समझा है उसको देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब मनुष्य केवल एक पशु है तो फिर उसके लिए प्रेम का बन्धन ही क्यों होना चाहिए। जो समाज को बन्धनों से मुक्त करना चाहता है वह मनुष्य को बन्धनों से मुक्त क्यों न करे। इसीलिए 'राशिद' कहते हैं :

शबनमी घास पै दो जिस्म हों यख़बस्ता पड़े,
और ख़ुदा है तो पशेमाँ हो जाए।

ख़ुदा 'पशेमाँ' हो या न हो, परन्तु भारतीय संस्कृति का साधारण अनुयायी अवश्य 'पशेमाँ' हो जायगा। दो जिस्मों को 'यखबस्ता' होने के लिए शबनमी घास ही मिली थी।

यह प्रगतिशील कवि विवाह की प्रथा को भी अप्राकृतिक मानते हैं, और उनके दृष्टिकोण से यह ठीक भी है, क्योंकि इससे स्त्री और पुरुष पर अनावश्यक बन्धन लग जाता है। कभी-कभी यह प्रगतिशील कवि इस बात पर पछताने भी लगता है कि जिस स्त्री से उसको सामयिक प्रेम है वह समाज की रूढ़ियों से विवश है। वह अपनी प्रेयसी से कहता है :

चंद रोज़ और मेरी जान फ़क़त चंद ही रोज़,
ज़ुल्म की छाँव में दम लेने पै मज़बूर हैं हम।

इससे भी अधिक खींचा-तानी इस कवि के हृदय में इस बात पर है कि वह क्रान्ति और प्रेम में ऊपर का दर्जा किसको दे। वह अपनी प्रेयसी से कहता है :

तेरे माथे पर यह आँचल बहुत ही ख़ूब है लेकिन,
तू इस आँचल से एक परचम बना लेती तो अच्छा था।

क्रान्ति और प्रेम के इस बेतुके मेल को साधारण पूर्वी भाषा में

'गुड़-गोबर' कह सकते हैं।

हाँ, 'मजाज़' लखनवी एक ऐसा कवि है, जिसके यहाँ प्रेम का अपमान नहीं मिलता, परन्तु वह कहाँ तक प्रगतिशील है यह दूसरी बात है। 'साहिर' लुधियानवी का काव्य-संग्रह 'तल्ख़ियाँ' इस शेर से आरम्भ होता है :

अभी न छेड़ मुहब्बत के गीत ए मुतरिब,
अभी हयात का माहौल साज़गार नहीं।

दूसरी ओर यह आवाज़ आती है कि मुझसे प्रेम करतो हो तो दुःख सहने को तैयार रहो। कवि कहता है :

एक सरकश से मुहब्बत की तमन्ना रखकर,
ख़ुद को आईन के फंदों में फँसाती क्यों हो?

और फिर मुँहफट होकर अपनी प्रेयसी से कह देता है :

तुम्हारे ग़म के सिवा और भी तो ग़म हैं मुझे,
नजात जिनसे मैं एक लहमा पा नहीं सकता।
यह ऊँचे-ऊँचे मकानों की ड्योढ़ियों के तले,
हर एक गाम पर भूखे भिखारियों की सदा।
यह कारख़ानों में लोहे का शोरो-गुल जिसमें,
है दफ़्न लाखों ग़रीबों की रूह का नग़मा।

: ६ :

उर्दू का प्रचार

अञ्जुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू

यह पहले कहा जा चुका है कि सन् १८३५ में अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिए उर्दू को राज-भाषा बनाया। सन् १८५७ के ग़दर के बाद हिन्दी और उर्दू का झगड़ा आरम्भ हुआ। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी के दो बड़े विद्वान् लेखक थे। उनमें से राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द सरल हिन्दी लिखते थे और राजा लक्ष्मणसिंह क्लिष्ट भाषा के समर्थक थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को नवीन हिन्दी-शैली का प्रथम प्रवर्त्तक समझना चाहिए। इन लेखकों के यहाँ हिन्दी-उर्दू की स्पर्धा की झलक पाई जाती है। राजा शिवप्रसाद को अंग्रेजों की ओर से K. C. S. I. की उपाधि प्रदान की गई थी।

सर सैयद अहमद खाँ ने उर्दू का मोर्चा लगाया और अलीगढ़-मुस्लिम-कालिज उर्दू के आन्दोलन का गढ़ बन गया। जब तक सर सैयद अहमद खाँ जीवित रहे तब तक ब्रिटिश सरकार ने कुछ न कहा। परन्तु सर सैयद के बाद जब नवाब मुहसिनुल मुल्क ने उर्दू के आन्दोलन को अपनाया तो उत्तर प्रदेश के लैफ्टिनेण्ट गवर्नर एण्टनी मैकडानल्ड ने यह धमकी दी कि उन्हें मुस्लिम-कालिज के मुख्य प्रबन्धकर्ता के पद से

तक की आज्ञा न दी। 'अञ्जुमन तरक्क़ी-ए उर्दू' ने एक ओर तो सर तेजबहादुर सप्रू को प्रधान बनाया और दूसरी ओर पण्डित ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' देहलवी को सहायक मन्त्री बना लिया।

इस प्रकार उसका रूप मिला-जुला हिन्दू-मुस्लिम हो गया। परन्तु मौलवी अब्दुल हक़ की अन्तर-भावनाओं में कोई परिवर्तन नहीं आया। महात्मा गांधी; डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद और श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को एक ही खाने में रखकर व्यंग किये जाते थे; और कांग्रेस को तो उर्दू का शत्रु कहा ही जाता था। इस अञ्जुमन की ओर से 'हमारी ज़बान' नामक जो पत्र निकला, उसमें राष्ट्रीयता और कांग्रेस पर खुल्लम-खुल्ला चोटें होती थीं। यदि पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मथुरा में हिन्दी में भाषण दे दिया तो 'हमारी ज़बान' का सारा अग्रलेख इसी बात पर होता था।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में जब तक गांधी जी रहे तब तक तो उसका और रूप रहा, परन्तु जब टण्डन जी से विरोध होने के कारण गांधी जी उससे निकल गए तो 'अञ्जुमन तरक्क़ी-ए उर्दू' और 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' में साफ़-साफ़ छिड़ गई। परन्तु एक बात में 'अञ्जुमन' और 'सम्मेलन' एक थे। कांग्रेस और मुख्यतः महात्मा गांधी की ओर से 'हिन्दुस्तानी भाषा' अथवा हिन्दी और उर्दू की मिली-जुली साधारण भाषा का जो आन्दोलन आरम्भ हुआ उसके यह विरोधी थे। अबोहर में जब डॉ० अमरनाथ झा ने 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का प्रधान पद ग्रहण किया और हिन्दुस्तानी भाषा के विरुद्ध भाषण दिया तो उनकी और सब बातों का विरोध करते हुए भी 'हमारी ज़बान' में इस पक्ष का समर्थन किया गया कि हिन्दुस्तानी न कोई भाषा है और न हो सकती है। मौलवी अब्दुल हक़ और उनके साथी कहते थे कि हिन्दी कोई भाषा ही नहीं है और खड़ी बोली हिन्दी उर्दू से निकली है। यह वैसी ही बात है जैसे कि उर्दू को कहा जाता है कि यह कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है, बल्कि हिन्दी का ही एक रूप है।

'अञ्जुमन तरक्क़ी-ए उर्दू' को निज़ाम से बहुत सहायता मिली। मौलवी

हटा दिया जायगा। मुहसिनुल मुल्क घबराए और अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि उर्दू का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय, और कालिज को न छोड़ा जाय। बात यह थी कि एण्टनी मैकडानल्ड हिन्दी को भी उत्तर-प्रदेश में उर्दू और अंग्रेजी के साथ राज-भाषा का पद देना चाहते थे। और मुस्लिम एजुकेशनल कान्फ्रेंस, जिसे सर सैयद ने स्थापित किया था, इसके विरुद्ध थी।

इस वातावरण में इस शताब्दी के आरम्भ में 'अञ्जुमन तरक़्क़ी-ए उर्दू' का जन्म हुआ। सन् १६१० में मुस्लिम-लीग ने उर्दू के आन्दोलन को अपना लिया। सन् १६११ में मौलवी अब्दुल हक़ 'अञ्जुमन तरक्क़ी-ए उर्दू' के मंत्री नियुक्त हुए और औरंगाबाद में इसका दफ़्तर स्थापित हुआ। यों समझना चाहिए कि मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन के आन्दोलन और 'अञ्जुमन तरक्क़ी-ए उर्दू' का जन्म साथ-ही-साथ हुआ। औरंगाबाद निज़ाम राज्य में है। जैसे दिल्ली के उजड़ने के बाद लखनऊ में उर्दू का सिक्का जमा, उसी प्रकार लखनऊ के उजड़ने के पश्चात् हैदराबाद उर्दू का केन्द्र बन गया। यों तो रामपुर-दरबार में भी लखनऊ और दिल्ली के बहुत-से कविगण पहुँच गए थे, परन्तु वहाँ कोई ठोस साहित्य-सेवा नहीं हो सकी।

मौलवी अब्दुल हक़ बड़े कार्य-कुशल व्यक्ति हैं। उन्होंने उर्दू को कहा तो हिन्दुओं और मुसलमानों की मिली-जुली भाषा, परन्तु वास्तव में इसे उन्होंने मुस्लिम लीग के आन्दोलन का एक अंग बना दिया। 'अञ्जुमन तरक्क़ी-ए उर्दू' के द्वारा कांग्रेस का तो घोर विरोध होता था और सामूहिक रूप से नहीं व्यक्तिगत रूप में ही मुस्लिम-लीग के नेताओं की प्रशंसा होती थी। हिन्दी का विरोध तो उसका मुख्य कार्य था। सर तेज बहादुर सप्रू जब इस अञ्जुमन के प्रधान बने तो इसके 'लहजे' में कुछ परिवर्तन आया। अब उस तरह स्पष्ट रूप में तो मुस्लिम-लीग का साथ न दिया जाता था, परन्तु हिन्दी का विरोध जोर-शोर से जारी रहा। हैदराबाद में यह दशा थी कि निज़ाम ने वहाँ 'अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का अधिवेशन करने

तक की आज्ञा न दी। 'अञ्जुमन तरक्क़ी-ए उर्दू' ने एक ओर तो सर तेजबहादुर सप्रू को प्रधान बनाया और दूसरी ओर पण्डित ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' देहलवी को सहायक मन्त्री बना लिया।

इस प्रकार उसका रूप मिला-जुला हिन्दू-मुस्लिम हो गया। परन्तु मौलवी अब्दुल हक़ की अन्तर-भावनाओं में कोई परिवर्तन नहीं आया। महात्मा गांधी; डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद और श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को एक ही खाने में रखकर व्यंग किये जाते थे; और कांग्रेस को तो उर्दू का शत्रु कहा ही जाता था। इस अञ्जुमन की ओर से 'हमारी ज़बान' नामक जो पत्र निकला, उसमें राष्ट्रीयता और कांग्रेस पर खुल्लम-खुल्ला चोटें होती थीं। यदि पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मथुरा में हिन्दी में भाषण दे दिया तो 'हमारी ज़बान' का सारा अग्रलेख इसी बात पर होता था।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में जब तक गांधी जी रहे तब तक तो उसका और रूप रहा, परन्तु जब टण्डन जी से विरोध होने के कारण गांधी जी उससे निकल गए तो 'अञ्जुमन तरक़्क़ी-ए उर्दू' और 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' में साफ़-साफ़ छिड़ गई। परन्तु एक बात में 'अञ्जुमन' और 'सम्मेलन' एक थे। कांग्रेस और मुख्यतः महात्मा गांधी की ओर से 'हिन्दुस्तानी भाषा' अथवा हिन्दी और उर्दू की मिली-जुली साधारण भाषा का जो आन्दोलन आरम्भ हुआ उसके यह विरोधी थे। अबोहर में जब डॉ० अमरनाथ झा ने 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का प्रधान पद ग्रहण किया और हिन्दुस्तानी भाषा के विरुद्ध भाषण दिया तो उनकी और सब बातों का विरोध करते हुए भी 'हमारी ज़बान' में इस पक्ष का समर्थन किया गया कि हिन्दुस्तानी न कोई भाषा है और न हो सकती है। मौलवी अब्दुल हक़ और उनके साथी कहते थे कि हिन्दी कोई भाषा ही नहीं है और खड़ी बोली हिन्दी उर्दू से निकली है। यह वैसी ही बात है जैसे कि उर्दू को कहा जाता है कि यह कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है, बल्कि हिन्दी का ही एक रूप है।

'अञ्जुमन तरक़्क़ी-ए उर्दू' को निज़ाम से बहुत सहायता मिली। मौलवी

जामिया मिलिया इस्लामिया

महात्मा गांधी ने सन् १९२० में जब असहयोग-आन्दोलन आरम्भ किया तो उसका ध्येय स्वराज्य भी था और 'ख़िलाफ़त' की समस्या का निर्णय भी। इस कारण मुसलमान भी पूरे ज़ोर-शोर से उसमें सम्मिलित हुए। इस आन्दोलन का रूप सार्वजनिक था, फलतः राष्ट्रीय जीवन के हर अंग पर इसका प्रभाव पड़ा। यह पहले कहा जा चुका है कि सर सैयद अहमद ख़ाँ ने मुसलमानों में पार्थक्य की धारा चलाई। इस अन्दोलन के चलने से वह समाप्त-सी हो गई। मुसलमान कवियों और लेखकों ने भी इस आन्दोलन को सफल बनाने में पूरी सहायता दी। मौलाना 'हसरत' मोहानी यों तो ग़ज़ल ही कहते थे, परन्तु उनकी कविता पर भी इस आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। और क्यों न पड़ता? वे उत्तर प्रदेश की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान थे। जेल में चक्की चलाते-चलाते उन्होंने एक शैर कहा :

है मश्क़े सुख़न जारी, चक्की की मुसीबत भी,
एक तुरफ़ा तमाशा है, हसरत की तबीयत भी।

मौलाना 'हसरत' मोहानी की एक ग़ज़ल यों शुरू होती है :

चमन है गुल के लिए और गुल चमन के लिए,
वतन है मेरे लिए और मैं वतन के लिए।

यह ग़ज़ल इस मिसरे पर समाप्त होती है :

जीऊँ वतन के लिए और मरूँ वतन के लिए।

मौलाना मुहम्मदअली गिरफ़्तार तो सन् १९१४ में हुए और छोड़े गए सन् १९१९ में। उसी वर्ष पहली बार यह कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित हुए। इनकी कविता बहुत थोड़ी है। ये 'जौहर' तख़ल्लुस रखते थे, परन्तु उनकी कविता में राष्ट्रीयता और निर्भीकता का सन्देश मिलता है। जब असहयोग-आन्दोलन पूरे ज़ोर पर था, सी० आई० डी० का चक्कर चल रहा था और अदालतों में सज़ाएँ हो रही थीं तब इन्होंने लिखा था :

ख़ौफ़े ग़म्माज़ अदालत का ख़तर दार का डर,
है जहाँ इतने वहाँ ख़ौफ़े ख़ुदा और सही।

उस समय ब्रिटिश सरकार प्रथम युद्ध में जीत चुकी थी और अरब को अपने राज्य में मिलाना चाहती थी। उन्होंने तब लिखा था :

किश्वरे कुफ़्र में काबे को भी शामिल कर लो,
सैरे ज़ुल्मात को थोड़ी-सी फ़िज़ा और सही।

एक शैर में वे यह सन्देश देते हैं :

इतनी पस्ती है कि पस्ती को बुलन्दी समझे,
इसका एहसास अगर हो तो उभरना है यही।

इसी ग़ज़ल में एक मिसरा है :

हवसे जीस्त हो इस दरजा तो मरना है यही।

इसी महान् नेता के हाथों जामिया मिलिया का जन्म हुआ। बात यह थी कि कांग्रेस ने सन् १९२० में लाला लाजपतराय की प्रधानता में गांधी जी का पेश किया हुआ असहयोग का जो प्रस्ताव पास किया था उसमें सरकारी विश्वविद्यालयों का बहिष्कार भी शामिल था। मौलाना मुहम्मद अली ने मुस्लिम-यूनीवर्सिटी को तोड़ने का प्रयत्न किया। बहुत-से विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षा छोड़ दी। विश्वविद्यालय तो न टूट सका, परन्तु राष्ट्रीय भावना के इन विद्यार्थियों की एक संस्था 'जामिया मिलिया इस्लामिया' के नाम से वहाँ बन गई। न कोई स्थान था, न कोई रुपया। परन्तु राष्ट्रीय भावना थी, और थे ऊँचे दरजे के पढ़ाने वाले। वृक्षों के नीचे चटाइयाँ बिछाकर अंग्रेजी का यह प्रकाण्ड पण्डित मौलाना मुहम्मद अली, जिसके 'कामरेड' नामक पत्र की अंग्रेजों में भी धूम थी, बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों को मिल्टन और शेक्सपियर की कविताएँ पढ़ाता। ख्वाजा अब्दुल मजीद ने भी इस संस्था के चलाने में बहुत काम किया।

जामिया मिलिया में शिक्षा का माध्यम उर्दू को रखा गया। अलीगढ़ में पर्याप्त साधन न होने के कारण सन् १९१५ में यह संस्था दिल्ली लाई गई। पहले हकीम अजमल ख़ाँ ने, जो देश के प्रमुख नेता होने के अतिरिक्त उर्दू के कवि भी थे, इसका भार उठाया। सन् १९१७ में उनकी मृत्यु हो जाने के पश्चात् डॉ० अन्सारी इसके चान्सलर हुए, और डॉ० जाकिर-

हुसेन इसके प्रिन्सिपल। प्रमुख अध्यापकों और कार्यकर्ताओं में डॉ० आबिद हुसेन, मौलाना शफ़ीकुर्रहमान क़िदवई और प्रो० मुहम्मद मुजीब थे।

जामिया मिलिया से उर्दू का बहुत ठोस साहित्य भी निकला। डॉ० जाकिरहुसेन न केवल ऊँचे विचारों के लेख लिखते थे, बल्कि बच्चों के लिए छोटी-छोटी कहानियाँ भी लिखा करते थे। बच्चों का पत्र 'पयामे तालीम' था, और साहित्यिक मासिक-पत्र का नाम था 'जामिया'। इस 'जामिया' के लेख बहुत ऊँचे और विचारोत्तेजक होते थे। जहाँ 'अञ्जुमन तरक्क़ी-ए उर्दू' के पत्र 'हमारी जबान' में राष्ट्रीयता-विरोधी लेख निकलते थे वहाँ इस पत्र से राष्ट्रीयता का स्पष्टीकरण होता था। जामिया मिलिया से बहुत-से अनुवाद भी निकले। डॉ० आबिद हुसेन ने महात्मा गांधी की आत्म-कथा का अनुवाद 'तलाशे हक़' के नाम से किया। महमूद अली खाँ ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा का अनुवाद 'मेरी कहानी' के नाम से किया। सच तो यह है कि जामिया ने उर्दू में एक नवीन धारा उत्पन्न कर दी। मौलाना शफ़ीकुर्रहमान क़िदवई ने, जो प्रौढ़-शिक्षा के विशेषज्ञ थे, 'तालीमो-तरक्की' नाम का भी एक पत्र चलाया, जो उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं में छपता था। जामिया के अध्यापकों में सबसे बड़े कवि 'यास' टोंकी थे, जिनका देहान्त हो चुका है। जामिया में मुशायरे भी बड़े जोरों से हुआ करते हैं, जिनमें उर्दू के महान् कविगण भाग लिया करते हैं। मौलाना 'हसरत' मोहानी तीसरे दरजे के डिब्बे में आते और स्टेशन से जामिया मिलिया तक चार मील पैदल चलकर मुशायरे में सम्मिलित होते और पैदल ही वापस जाते थे, क्योंकि वे एक राष्ट्रीय संस्था पर अधिक भार नहीं डालना चाहते थे।

जामिया से जो विद्यार्थी निकले उनमें सबसे पहले डॉ० जाकिरहुसेन तथा मौलाना शफ़ीकुर्रहमान क़िदवई के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यह लोग यहाँ पढ़े भी और यहाँ के अध्यापक भी रहे। डॉ० मुहम्मद अशरफ़ की शिक्षा भी जामिया में ही हुई। जामिया के अध्यापक मुहम्मद शफ़ीउद्दीन 'नैयर' बच्चों की कविताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। मौलवी मुहम्मद इस्माईल के बाद

'नैयर' साहब से बढ़कर बच्चों के लिए रोचक कविताएँ लिखने वाला और कोई नहीं हुआ। हाँ, इस सम्बन्ध में मुन्शी रामसहाय 'तमन्ना' लखनवी, 'हफ़ीज़' जालन्धरी और हामिद उल्ला 'अफ़सर' मेरठी के नाम उल्लेखनीय हैं।

जामिया ने 'मक़तबये जामिया' के नाम से एक प्रकाशन-संस्था भी स्थापित की हुई है, जिसका काम बहुत अच्छा चला, परन्तु जो सन् १९४७ की गड़बड़ में लुट गया। शान्ति हो जाने पर इसे फिर से स्थापित किया गया। इस प्रकाशन-संस्था से गद्य की पुस्तकों के अतिरिक्त 'जिगर' मुरादाबादी आदि बड़े-बड़े कवियों की कविताओं के संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। सन् १९४६ में जामिया की रजत-जयन्ती मनाई गई। वर्षों के बाद यह पहला अवसर था जब कि मिस्टर जिन्ना और सब राष्ट्रीय नेता एक ही मंच पर एकत्रित हुए। इस अवसर पर एक मुशायरा भी हुआ था, जिसमें दिल्ली, पंजाब और उत्तर प्रदेश के सर्व प्रसिद्ध कवि 'जोश' और 'फ़िराक़' आदि सम्मिलित हुए थे। सन् १९४७ के बाद से इस संस्था का रूप बदल गया। डॉ० ज़ाकिरहुसेन अलीगढ़ चले गए। मौलाना शफ़ीकुर्रहमान इण्डोनेशिया चले गए, फिर दिल्ली के शिक्षा-मन्त्री रहे और अब उनका देहान्त हो चुका है। डॉ० आबिद हुसेन और प्रो० मोहम्मद मुजीब इस संस्था को सँभाले हुए हैं।

उर्दू-पत्रकारिता

जिस प्रकार उर्दू-गद्य की नई धारा कलकत्ता से आरम्भ हुई उसी प्रकार उर्दू-पत्रकारिता का प्रारम्भ भी कलकत्ता से ही हुआ। उर्दू का पहला पत्र 'मिरातुल अख़बार' राजा राममोहन राय ने सन् १८२१ में निकाला। यह साप्ताहिक पत्र था। इस पत्र के लेखों से उस समय की सरकार चिढ़ गई थी, क्योंकि उसकी दृष्टि में उसने अपने अधिकारों का उल्लंघन किया था। कलकत्ता के प्रारम्भिक काल के उर्दू-पत्रों के विषय में यह लिखकर विलायत भेजा गया था कि इनका विचार-स्वातन्त्र्य वैध नहीं है। इसीके एक वर्ष उपरान्त फ़ारसी में प्रकाशित होने वाले 'जामे जहाँनुमा' ने अपना उर्दू का परिशिष्ट भी निकालना प्रारम्भ किया। लगभग इसी समय 'शमसुल अख़बार' के प्रकाशित होने का भी वर्णन आता है। इन तीनों ही पत्रों के प्रबन्धक हिन्दू थे। 'जामे जहाँनुमा' इनमें सबसे अधिक समय तक चला, इसके प्रबन्धक श्री हरिहरदत्त शर्मा थे। उस समय आजकल की भाँति समाचार-एजेन्सियाँ तो थी नहीं, डाक का भी ऐसा प्रबन्ध नहीं था जैसा आजकल है। क्योंकि रेलें भी नहीं चली थीं इसलिए घुड़सवारों के द्वारा डाक आया-जाया करती थी। बहुत-से समाचार तो कई-कई सप्ताह के उपरान्त प्रकाशित होते थे। समाचारों का ढंग कैसा होता था, उसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

"लखनऊ, २३ मार्च सन् १८२५। एक दिन मसीता बेग कोतवाल को हुक्म दिया कि जितनी लौंडियाँ शहर में बिकें उन्हें हुज़ूर की ड्योढ़ी पर हाज़िर किया करो।"

"मिर्ज़ा मुहम्मद तक़ीख़ाँ आग़ा नसीर के भाई जो नाराज़ होकर कान्हपूर की तरफ़ रवाना हुए। इलाही जान उनकी तवाइफ़ ४० रण्डियों के साथ गेरुए कपड़े पहने और अलम हाथ में उठाकर अब्बास की दरगाह को गई।"

"२५ अक्तूबर सन् १८२५। एक अरज़ी पहुँची कि अहसान अली बुर्दा-फ़रोश ४ कनीज़ लाया है और उसने ८ कनीज़ें मिर्ज़ा मसीता बेग कोतवाल को भेजी थीं, वह भी दरे-दौलत पर हाज़िर है। इरशाद हुआ कि इन्हें अहसानअली के पास रवाना कर दो। जो कनीज़ें कोतवाल के पास आई थीं, उनमें तीन बहुत छोटी उम्र की थीं, उनको मुस्तरद कर दिया गया।"

"लखनऊ, २२ फरवरी सन् १८२६। एक दिन सवारी हुज़ूर की सैर के लिए जाती थी। हिन्दू फ़क़ीर ने दुआ की। इरशाद हुआ कि १००० रुपया भण्डारे के वास्ते दिया जाय।"

'जामे जहाँनुमा' सन् १८७६ तक जीवित रहा। 'ग़ालिब' के पत्रों में इसका वर्णन आया है।

दिल्ली में जो पत्र सबसे पहले प्रकाशित हुआ वह 'देहली उर्दू अख़बार' था, जिसके पहले प्रबन्धक सैयद हुसेन साहब और उनके पश्चात् मुईनुद्दीन साहब थे। बाद में इसके प्रबन्धक मोतीलाल हुए। मौलाना मुहम्मद बाक़र इसके सम्पादक थे। सन् १८४६ में इमदाद हुसेन साहब इसके सम्पादक हुए और अन्त में यह पद मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' को मिला। इस पत्र में भी लखनऊ के समाचार अधिक होते थे। परन्तु 'जामे जहाँनुमा'

की अपेक्षा इसमें गम्भीर समाचार अधिक होते थे। कलकत्ता के पत्रों में तो कविताएँ बहुत कम होती थीं, परन्तु दिल्ली के पत्रों में कविताएँ भी प्रकाशित की जाती थीं। कलकत्ता के पत्रों में मि० डुकास्टा की कविताएँ कभी-कभी छपा करती थीं। यह सज्जन अंग्रेज थे और उर्दू में कविता किया करते थे। उनकी कविता का नमूना यह है :

कल हम तुम्हारे कूचे में, आये चले गए,
हय हय हज़ार अश्क बहाए चले गए।
हम हैं फ़क़त कि दिल जो गँवाते हैं वर्ना सब,
आकर जहाँ में कुछ तो कमाए चले गए।
कल उस परी की बज़्म में सब मिलके बरमला,
तेरी ग़ज़ल 'डुकास्टा' गाए चले गए।

'देहली उर्दू अख़बार' के सम्पादक मौलवी मुहम्मद बाक़र 'ग़ालिब' के विरोधी थे। इन्होंने उस मुक़द्दमे का वर्णन अपने पत्र में विस्तार से किया है, जो 'ग़ालिब' पर सरकार की ओर से चला था। उसका वर्णन इस प्रकार है :

"सुना गया कि इन दिनों थाना गुज़र क़ासिम ख़ाँ में मिर्ज़ा नौशा के मकान से अक्सर नामी क़िमारबाज़ पकड़े गए। मिस्ल हाशिम अली-ख़ाँ वग़ैरा के, जो साबिक़ बड़ी इल्लतों तक सुपुर्द होते थे। कहते हैं यहा क़िमार होता था, लेकिन बासबब रौब और कसरते-मरदान के या किसी तरह से कोई थानेदार दस्तन्दाज़ नहीं हो सकता था। अब थोड़े दिन हुए यह थानेदार क़ौम से सैयद और बहुत जरी सुना जाता है, मुक़र्रर हुआ है; यह पहले जमादार था। बहुत मुद्दत का नौकर है। जमादारी में भी यह बहुत गिरफ़्तारी मुजरिमों की करता रहा है, बहुत बेतमा है। यह मिर्ज़ा नौशा एक शायर नामी और रईसज़ादा नवाब शमसुद्दीन ख़ाँ क़ातिल विलियम फ्रेज़र साहब के क़राबते क़रीबा में से हैं।"

मौलवी मुहम्मद बाक़र के इस लेख से प्रतीत होता है कि वे 'ग़ालिब'

को जुए में फाँसे जाने से ही सन्तुष्ट नहीं थे, प्रत्युत उन्हें हत्या के अभियोग में फँसवाना भी चाहते थे। समय का उलट-फेर देखिये कि इन्हीं मौलाना मुहम्मद बाक़र को कुछ दिनों बाद फाँसी पर लटकाया गया।

कलकत्ता के पत्रों की अपेक्षा इस पत्र में कविताएँ अधिक और उच्च-कोटि की होती थीं। बहादुरशाह 'ज़फ़र' के उस्ताद 'ज़ौक़' भी कभी-कभी अपनी कविताएँ इस पत्र में भेजा करते थे। कुछ मुशायरों का वर्णन भी इसमें प्रकाशित होता था। 'ग़ालिब' अपने एक पत्र में इस पत्र के समाचार का विवरण इस प्रकार देते हैं :

"हाँ भाई, परसों किसी शख़्स ने मुझसे ज़िक्र किया—'उर्दू अख़बार देहली' में था कि हाथरस में बलवा हुआ और मजिस्ट्रेट ज़ख़्मी हो गया। आज मैंने एक दोस्त से इस अख़बार का दुवर्क़ा माँगकर देखा। वाक़ई उसमें मुन्दरिज था कि राहें चौड़ी करने पर और हवेलियाँ और दुकानें ढाने पर बलवा हुआ और रिआया ने पत्थर मारे, मजिस्ट्रेट ज़ख़्मी हुआ।"

इस पत्र में लखनऊ के दुर्भिक्ष का वर्णन करते हुए बड़े आश्चर्य से लिखा गया था कि गेहूँ १३ सेर का हो गया। सन् १८४१ के पत्रों में हिन्दू-मुस्लिम-बलवों का भी उल्लेख है।

'सैयदुल अख़बार' सर सैयद अहमदख़ाँ के बड़े भाई मौलवी सैयद मुहम्मद ने दिल्ली से सन् १८३७ में निकाला था। यह भी साप्ताहिक पत्र था। सन् १८४६ में मौलवी साहब का देहान्त हो जाने के पश्चात् इसका प्रबन्ध सर सैयद अहमदख़ाँ ने स्वयं सँभाला, परन्तु उनके सरकारी नौकरी में आ जाने के कारण यह पत्र सन् १८५० में बन्द हो गया।

उत्तर प्रदेश में सबसे पहला उर्दू-मासिक-पत्र 'ख़ैरख़्वाहे हिन्द' सन् १८३७ में एक पादरी साहब ने मिर्ज़ापुर से निकाला। इस पत्र में समाचारों के साथ-साथ ईसाई-धर्म का प्रचार भी होता था। बम्बई से पहला उर्दू-पत्र मौलवी करीमुद्दीन ने 'करीमुल अख़बार' के नाम से सन् १८४५ में प्रकाशित किया और इसी वर्ष मद्रास से 'उम्दतुल अख़बार' निकला।

दिल्ली-कालिज में मास्टर रामचन्द्र एक बड़े योग्य अध्यापक थे, जिन्होंने ईसाई-धर्म ग्रहण कर लिया था। वे पढ़ाते तो अंग्रेजी थे, परन्तु उर्दू के भी बड़े विद्वान् थे। उन्होंने दो पत्र निकाले, एक 'फ़वायदुल नाजरीन' सन् १८४६ में और दूसरा 'मुहिब्बे हिन्द' सन् १८४७ में। पहला पत्र पाक्षिक और दूसरा मासिक था। सन् १८४६ में शेख अब्दुल्ला ने शिमला से 'शिमला अखबार' प्रकाशित किया, जो छपता तो था देवनागरी लिपि में परन्तु भाषा उसकी उर्दू होती थी। सन् १८४६ में ही जमालुद्दीन ने दिल्ली से 'सादिकुल अखबार' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकाला। सन् १८५७ में जब दिल्ली में ग़दर हुआ तो इस पत्र ने बहुत समाचार दिये। जिसकी प्रतियाँ बाद को अदालत में बहादुरशाह के मुकद्दमे के दौरान में पेश की गईं। इसी वर्ष प्रभुदयाल नाम के सज्जन ने 'फ़वायदुल सायकीन' नामक एक और उर्दू-पत्र दिल्ली से प्रारम्भ किया।

सन् १८४७ में उत्तर प्रदेश से उर्दू का पहला साप्ताहिक पत्र 'सादुल अखबार' आगरा से निकला और सन् १८४६ में श्री लछमनप्रसाद ने 'उम्दतुल अखबार' बरेली से प्रकाशित किया। यहाँ हम उन पत्रों का वर्णन नहीं करते, जो कुछ हिन्दी और कुछ उर्दू-लिपि में छपते थे। श्री मोतीलाल ने 'अल हक़ायक़ अखबार' आगरा से निकाला, जो सप्ताह में दो बार प्रकाशित होता था। लाहौर से सबसे पहला उर्दू-साप्ताहिक मुन्शी हरसुखराय ने 'कोहेनूर' के नाम से प्रारम्भ किया। इसी वर्ष मुन्शी दीवानचन्द ने स्यालकोट से 'खुरसीदे आलम' प्रकाशित किया। लुधियाना का 'नूर अलानूर' (जो सन् १८५१ में प्रकाशित हुआ था) मौलाना मुहम्मद हुसेन ने निकाला था।

कलकत्ता के पत्र 'जामे जहाँनुमा' का उल्लेख तो हो ही चुका है, परन्तु इसी नाम का एक और पत्र सन् १८५१ में मेरठ से भी प्रकाशित हुआ था। इसके एक वर्ष बाद मेरठ ही से मौलवी महबूब अली ने 'मिफ़्ताहुल अखबार' नाम का एक साप्ताहिक प्रारम्भ किया। तीन पत्र बनारस से भी उर्दू में प्रकाशित हुए। सन् १८५१ में 'बाग़ो बहार' तथा 'जायरीने हिन्द'

नामक पत्र महाराजा बनारस की ओर से निकले, इनमें पहला साप्ताहिक था और दूसरा पाक्षिक।

अलीगढ़ से 'फ़तहुल अखबार' सन् १८५३ में प्रकाशित हुआ। सन् १८५० के उपरान्त उर्दू-पत्रों की संख्या बड़े वेग से बढ़ने लगी। आगरा से 'क़ुतबुल अखबार' सन् १८५१ में निकला, यह साप्ताहिक था और वहीं से 'मेयारुश्शोरा' मासिक भी प्रकाशित हुआ। यह पत्र केवल कविता-सम्बन्धी ही था। कलकत्ता और दिल्ली, उत्तर प्रदेश और पंजाब, मद्रास और बम्बई का तो कुछ उल्लेख पहले हो ही चुका। सन् १८५७ में कराची से भी 'अखबार सिन्धियन' उर्दू में प्रकाशित हुआ।

ग़दर से एक वर्ष पूर्व लखनऊ से दो साप्ताहिक उर्दू-पत्र प्रकाशित हुए, जिनमें से एक का नाम 'सेहरेसामरी' और दूसरे का 'तिलिस्मे लखनऊ' था। ग़दर के उपरान्त सबसे पहला दैनिक पत्र 'अवध अखबार' मुन्शी नवलकिशोर ने निकाला। उसका और 'अवध पंच' का उल्लेख हम पिछले किसी अध्याय में कर चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पत्रों में सर सैयद अहमद खाँ का 'तहज़ीबुल-इखलाक़' अत्यन्त उल्लेखनीय है। लखनऊ में मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' का 'दिलगुदाज़' और लाहौर में सर अब्दुल क़ादिर का 'मख़-ज़न' विशेष महत्त्व रखते हैं।

अब हम बीसवीं शताब्दी में आते हैं। लखनऊ से 'तफ़रीह' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकल रहा था और इलाहाबाद का मासिक पत्र 'अदीब' था। कानपुर से मुन्शी दयानारायण निगम का 'ज़माना' प्रकाशित होता था और आज़मगढ़ से मौलाना शिबली का 'मुआरिफ़' मासिक प्रकाशित होता था, जो अब भी बराबर निकल रहा है। मुन्शी गंगाप्रसाद वर्मा का पत्र 'हिन्दोस्तानी' लखनऊ से प्रकाशित होता था, जो उनकी मृत्यु के उपरान्त पण्डित दयाकृष्ण कौल के सम्पादकत्व में निकलता रहा। लाहौर का 'पैसा अखबार' अपने समय का बड़ा प्रसिद्ध पत्र था। पंजाब में सन् १९०६ में मास्टर जगतसिंह ने शिक्षा-सम्बन्धी मासिक पत्र 'रहनुमाए तालीम' निकाला, जो अब दिल्ली से प्रकाशित होता है। इन्हीं दिनों बिजनौर से 'मदीना'

नामक अर्ध साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ, जो अब भी वैसी ही शान से प्रकाशित होता है। इसके सम्पादकों में 'वद्र' जलाली भी रह चुके हैं। कानपुर से एक हास्य-रस का मासिक 'जिन्दादिल' भी निकला था।

उर्दू-पत्रकारिता के क्षेत्र में जिस पत्र ने नवयुग का सूत्रपात किया वह मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद' का 'अल हिलाल' साप्ताहिक था, जिसकी फ़ाइलें आज भी अनेक साहित्य-प्रेमियों के यहाँ सुरक्षित हैं। इसका अग्रलेख सर्वथा अद्वितीय होता था, क्योंकि उसमें भाषा का चमत्कार और भावों की गम्भीरता दोनों ही पाये जाते हैं। इसीके कुछ दिनों बाद मौलाना मुहम्मद अली का 'हमदर्द' निकला, जो पहले साप्ताहिक रहा और बाद में दैनिक हो गया। मौलाना 'आज़ाद' का 'अल हिलाल' तो उनके जेल जाने के बाद सदा के लिए बन्द हो गया, परन्तु मौलाना मुहम्मद अली ने 'हमदर्द' को एक बार बन्द हो जाने के बाद फिर से चलाने का प्रयत्न किया, जो निष्फल हुआ। 'हमदर्द' में 'आरिफ़' हसवी, ज़फ़रुलमुल्क, सैयद 'जालिब' और डॉ० सईद-जैसे विद्वान् कार्य करते थे। इन सबने 'हमदर्द' के बन्द होने के बाद भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपने-अपने पत्र निकाले। सैयद 'जालिब' का 'हमदम' तो उनकी मृत्यु के पश्चात् भी चलता रहा और उसी 'हमदम' के उपसम्पादक सरदार दीवानसिंह 'मफ़तून' ने दिल्ली से 'रियासत' नामक साप्ताहिक निकाल लिया। ज़फ़रुल-मुल्क का 'अलनाज़िर', डॉ० सईद का 'सईद' और 'आरिफ़' हसवी का 'कांग्रेस' उनके जीवन में ही बन्द हो गए। सन् १९११ में मौलाना ज़फ़र अलीख़ाँ ने पंजाब में 'ज़मींदार' नाम का पत्र निकाला, जो आज भी दैनिक रूप में लाहौर से प्रकाशित हो रहा है। उसी वर्ष सूफ़ी लछमनप्रसाद का मासिक पत्र 'मस्ताना जोगी' भी पंजाब से निकला। जो देश के विभाजन के उपरान्त अब भी उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं में दिल्ली से प्रकाशित होता है।

सन् १९१४ में विश्व-महायुद्ध छिड़ जाने पर कई नये पत्र निकलने प्रारम्भ हुए। इनमें से शब्बीर हसन 'क़तील' का 'सैयारा' कुछ दिनों अपनी चमक-दमक दिखाकर अन्त में डूब गया। 'हक़ीक़त' अखबार लखनऊ से अब

भी निकल रहा है। ख्वाजा हसन 'निजामी' का 'निजामुल मशायख' एक धार्मिक पत्र था, परन्तु भाषा के लालित्य के कारण इसे दूसरे धर्म वाले भी पढ़ते थे।

महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन चलाने का प्रभाव पत्रकारिता पर भी बहुत पड़ा। इसी समय बहुत-से नये पत्र निकले। लखनऊ से 'इन्कलाब' प्रकाशित हुआ, जो थोड़े दिन चलकर बन्द हो गया। लाहौर से लाला लाजपतराय ने 'वन्देमातरम्' प्रारम्भ किया, जिसके सम्पादक बहुत दिनों तक लाला रामप्रसाद रहे। 'वन्देमातरम्' का उत्तरी भारत में वही महत्त्व था, जो महाराष्ट्र में 'केसरी' का। पंजाब से 'सालिक' और 'मेहर' ने 'इन्कलाब' नाम का दैनिक पत्र निकाला, जो अब भी चल रहा है। सैयद हबीब का पत्र 'सियासत' अब बन्द हो चुका है। दिल्ली से सैयद अजीज हसन बक़ाई ने 'हुर्रियत' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला। असहयोग-आन्दोलन के शान्त हो जाने पर और देश में कई साम्प्रदायिक आन्दोलनों के चलने पर फिर एक बार पत्रकार-जगत् में बड़ी हलचल मची।

दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्द ने 'तेज' दैनिक प्रकाशित किया, जिसके सम्पादक लाला देशबन्धु गुप्ता थे। देशबन्धु जी जब इस पत्र के डायरेक्टर हो गए तो इसके सम्पादक श्री शिवनारायण भटनागर हुए। बाद में उन्होंने अपना पत्र 'वतन' निकाल लिया। 'अल जमीयत' नाम का पत्र भी 'जमैयते-उल्मा हिन्द' की ओर से दिल्ली से ही प्रकाशित हुआ। पंजाब में महाशय कृष्ण ने 'प्रताप' और लाला खुशहालचन्द 'खुरसन्द' ने (जो अब आनन्द स्वामी हो गए हैं) 'मिलाप' निकाला। गोस्वामी गणेशदत्त ने 'वीर भारत' नामक पत्र प्रारम्भ किया, जिसके प्रारम्भिक सम्पादक साधु प्रकाशानन्द थे। लखनऊ से प्रकाशित होने वाला शियों का पत्र 'सर फ़राज़' साम्प्रदायिक है, मेरठ से प्रो० नन्दलाल भटनागर ने 'वीर हिन्दू' भी निकाला था, जो अधिक दिन नहीं चल सका। मेरठ के पत्रों में मौलाना 'क़ुदरत' का 'आईना' भी उल्लेखनीय है।

सन् १९३० के नमक-सत्याग्रह-आन्दोलन के पश्चात् जो राजनीतिक

नामक अर्ध साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ, जो अब भी वैसी ही शान से प्रकाशित होता है। इसके सम्पादकों में 'बद्र' जलाली भी रह चुके हैं। कानपुर से एक हास्य-रस का मासिक 'जिन्दादिल' भी निकला था।

उर्दू-पत्रकारिता के क्षेत्र में जिस पत्र ने नवयुग का सूत्रपात किया वह मौलाना अबुल कलाम 'आजाद' का 'अल हिलाल' साप्ताहिक था, जिसकी फ़ाइलें आज भी अनेक साहित्य-प्रेमियों के यहाँ सुरक्षित हैं। इसका अग्रलेख सर्वथा अद्वितीय होता था, क्योंकि उसमें भाषा का चमत्कार और भावों की गम्भीरता दोनों ही पाये जाते हैं। इसीके कुछ दिनों बाद मौलाना मुहम्मद अली का 'हमदर्द' निकला, जो पहले साप्ताहिक रहा और बाद में दैनिक हो गया। मौलाना 'आजाद' का 'अल हिलाल' तो उनके जेल जाने के बाद सदा के लिए बन्द हो गया, परन्तु मौलाना मुहम्मद अली ने 'हमदर्द' को एक बार बन्द हो जाने के बाद फिर से चलाने का प्रयत्न किया, जो निष्फल हुआ। 'हमदर्द' में 'आरिफ़' हसवी, जफ़रुलमुल्क, सैयद 'जालिब' और डॉ० सईद-जैसे विद्वान् कार्य करते थे। इन सबने 'हमदर्द' के बन्द होने के बाद भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपने-अपने पत्र निकाले। सैयद 'जालिब' का 'हमदम' तो उनकी मृत्यु के पश्चात् भी चलता रहा और उसी 'हमदम' के उपसम्पादक सरदार दीवानसिंह 'मफ़्तून' ने दिल्ली से 'रियासत' नामक साप्ताहिक निकाल लिया। जफ़रुल-मुल्क का 'अलनाज़िर', डॉ० सईद का 'सईद' और 'आरिफ़' हसवी का 'कांग्रेस' उनके जीवन में ही बन्द हो गए। सन् १९११ में मौलाना जफ़र अलीख़ाँ ने पंजाब में 'जमींदार' नाम का पत्र निकाला, जो आज भी दैनिक रूप में लाहौर से प्रकाशित हो रहा है। उसी वर्ष सूफ़ी लछमनप्रसाद का मासिक पत्र 'मस्ताना जोगी' भी पंजाब से निकला। जो देश के विभाजन के उपरान्त अब भी उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं में दिल्ली से प्रकाशित होता है।

सन् १९१४ में विश्व-महायुद्ध छिड़ जाने पर कई नये पत्र निकलने प्रारम्भ हुए। इनमें से शब्बीर हसन 'क़तील' का 'सैयारा' कुछ दिनों अपनी चमक-दमक दिखाकर अन्त में डूब गया। 'हक़ीक़त' अख़बार लखनऊ से अब

भी निकल रहा है। ख्वाजा हसन 'निज़ामी' का 'निज़ामुल मशायख़' एक धार्मिक पत्र था, परन्तु भाषा के लालित्य के कारण इसे दूसरे धर्म वाले भी पढ़ते थे।

महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन चलाने का प्रभाव पत्रकारिता पर भी बहुत पड़ा। इसी समय बहुत-से नये पत्र निकले। लखनऊ से 'इन्क़लाब' प्रकाशित हुआ, जो थोड़े दिन चलकर बन्द हो गया। लाहौर से लाला लाजपतराय ने 'बन्देमातरम्' प्रारम्भ किया, जिसके सम्पादक बहुत दिनों तक लाला रामप्रसाद रहे। 'बन्देमातरम्' का उत्तरी भारत में वही महत्त्व था, जो महाराष्ट्र में 'केसरी' का। पंजाब से 'सालिक' और 'मेहर' ने 'इन्क़लाब' नाम का दैनिक पत्र निकाला, जो अब भी चल रहा है। सैयद हबीब का पत्र 'सियासत' अब बन्द हो चुका है। दिल्ली से सैयद अज़ीज़ हसन बक़ाई ने 'हुर्रियत' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला। असहयोग-आन्दोलन के शान्त हो जाने पर और देश में कई साम्प्रदायिक आन्दोलनों के चलने पर फिर एक बार पत्रकार-जगत् में बड़ी हलचल मची।

दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्द ने 'तेज' दैनिक प्रकाशित किया, जिसके सम्पादक लाला देशबन्धु गुप्ता थे। देशबन्धु जी जब इस पत्र के डायरेक्टर हो गए तो इसके सम्पादक श्री शिवनारायण भटनागर हुए। बाद में उन्होंने अपना पत्र 'वतन' निकाल लिया। 'अल जमीयत' नाम का पत्र भी 'जमैयते-उल्मा हिन्द' की ओर से दिल्ली से ही प्रकाशित हुआ। पंजाब में महाशय कृष्ण ने 'प्रताप' और लाला खुशहालचन्द 'ख़ुरसन्द' ने (जो अब आनन्द स्वामी हो गए हैं) 'मिलाप' निकाला। गोस्वामी गणेशदत्त ने 'वीर भारत' नामक पत्र प्रारम्भ किया, जिसके प्रारम्भिक सम्पादक साधु प्रकाशानन्द थे। लखनऊ से प्रकाशित होने वाला शियों का पत्र 'सर फ़राज़' साम्प्रदायिक है, मेरठ से प्रो० नन्दलाल भटनागर ने 'वीर हिन्दू' भी निकाला था, जो अधिक दिन नहीं चल सका। मेरठ के पत्रों में मौलाना 'कुदरत' का 'आईना' भी उल्लेखनीय है।

सन् १६३० के नमक-सत्याग्रह-आन्दोलन के पश्चात् जो राजनीतिक

चेतना जाग्रत हुई उसके परिणामस्वरूप कई नये पत्र प्रकाश में आये। श्री रामलाल वर्मा ने लखनऊ से 'हिन्द' पत्र निकाला, जो बहुत दिन न चल सका। डॉक्टर अन्सारी की मृत्यु पर दिल्ली से श्री हिलाल अहमद ज़ुबैरी ने 'अन्सारी' नामक पत्र प्रारम्भ किया। उनके पाकिस्तान चले जाने पर यह पत्र भी बन्द हो गया।

राष्ट्रवादी और साम्प्रदायिक पत्रों का तो वर्णन हो चुका, अब साम्यवादी और समाजवादी पत्रों का भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक है। दिल्ली से समाजवादी पत्र साप्ताहिक 'एशिया' और 'आज़ाद एशिया' प्रकाशित होते हैं। 'एशिया' के सम्पादक मीर मुश्ताक़ अहमद और 'आज़ाद एशिया' के 'तूफ़ान' साहब हैं। साम्यवादियों के पत्रों में 'सवेरा' और 'नया ज़माना' विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्त में हम कुछ ऐसे साहित्यिक पत्रों का वर्णन करना चाहते हैं जिनके नाम पहले नहीं आये। मौलाना 'ताजवर' नजीबाबादी का 'हुमायूँ', अल्लामा राशिदुलख़ैरी का 'इस्मत', 'साग़र' निज़ामी का त्रैमासिक 'एशिया', 'सीमाब' अकबराबादी का 'शायर', चौधरी नज़ीर अहमद का 'अदबे-लतीफ़' (जिसका सम्पादन कुछ दिनों तक सुप्रसिद्ध उर्दू-कवि फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' भी करते रहे थे।), 'जोश' मलीहाबादी का 'कलीम', प्रो० आले अहमद 'सुरूर' का 'उर्दू अदब', प्रो० सईद का 'बुरहान', नून मीम 'राशिद' का 'शाहकार', 'मख़मूर' जालन्धरी का 'शाहराह', प्रकाश पण्डित का 'फ़नकार' तथा गोपाल मित्तल का 'तहरीक' आदि अनेक साहित्यिक पत्र हैं, जो इस शताब्दी के साहित्य-निर्माण में विशेष योग दे रहे हैं।

मौलाना 'ताजवर' नजीबाबादी उर्दू के बड़े साहित्यकारों में से थे। वे कवि भी थे और आलोचक भी। 'हुमायूँ' के अतिरिक्त उन्होंने 'शाहकार' भी प्रकाशित किया था, परन्तु दोनों में ही घाटा रहा। इन दिनों पत्रों का साहित्यिक स्तर बहुत ऊँचा था और उर्दू पढ़ने वाली जनता हल्की-फुल्की चीज़ें चाहती थी। इसी कारण ये दोनों पत्र न चल सके। अल्लामा राशिदुलख़ैरी 'मुसव्विरे-ग़म' (वेदना के शिल्पी) कहलाते हैं। उनके लेखों

में करुण रस का बाहुल्य था। 'इस्मत' नामक पत्र उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके सुपुत्रों ने चलाया, परन्तु वह बहुत दिनों तक न चल सका। 'साग़र' निजामी के त्रैमासिक 'एशिया' ने फ़िल्मों से कमाई हुई उनकी सारी पूँजी आत्मसात् कर ली और अन्त में उन्हें निर्धन करके छोड़ा। इस पत्र का भी साहित्यिक स्तर बहुत ऊँचा था। 'सीमाब' अकबराबादी का 'शायर' उर्दू-कविता के सिद्धान्तों का निर्देशक सबसे प्रामाणिक पत्र था। उनके पाकिस्तान चले जाने के पश्चात् उनके सुपुत्र यह पत्र निकालते रहे, परन्तु वह बात न रही। 'सीमाब' अकबराबादी ने पाकिस्तान जाकर 'परचम' नाम का एक मासिक पत्र निकाला, इस पत्र का उद्देश्य साहित्यिक रूप से विभिन्न जातियों और देशों में मित्रता स्थापित करना था और इसके मुखपृष्ठ पर अनेक जातियों की ध्वजा का चिह्न होता था। अब 'सीमाब' साहब का देहान्त हो चुका है और इस पत्र का भी।

'अदबे-लतीफ़' इस्मत चुग़ताई की 'लिहाफ़' शीर्षक कहानी की बदौलत बदनाम हुआ, परन्तु उसका साहित्यिक स्तर साधारणतः अच्छा ही रहा। यह प्रगतिशील विचार-धारा का पत्र है। 'जोश' मलीहाबादी का 'कलीम' बहुत ऊँचे स्तर से आरम्भ हुआ। परन्तु जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है उसका स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता ही चला गया, और अन्त में उन्होंने इस पत्र को बन्द कर दिया। 'कलीम' के लेख अनेक पत्रों में उद्धृत किये गए। 'उर्दू अदब', जिसके सम्पादक प्रो० आले अहमद 'सुरूर' हैं, वास्तव में 'अञ्जुमन-तरक़्क़ी-ए उर्दू' का पत्र है। जैसे 'उर्दू' पाकिस्तान (कराची) से निकल रहा है वैसे ही यह लखनऊ से। आज कदाचित् यह भारत में सबसे ऊँचे स्तर का उर्दू-पत्र है। 'बुरहान' साहित्यिक पत्र भी है और धार्मिक भी। यह मुस्लिम इतिहास को एक विशेष रंग में प्रस्तुत करता है। 'दारुल मुसन्नफ़ीन' से, जहाँ से कि यह पत्र प्रकाशित होता है, पुस्तकें भी इसी ढंग की प्रकाशित होती रहती हैं। 'शाहराह' प्रगतिशील लेखकों का सबसे ऊँचे स्तर का पत्र है। यह साम्यवादी दल का अनुगमन करता है। जैसे-जैसे उस दल की नीति बदलती रहती है वैसे-ही-वैसे इस पत्र की भी। 'फ़नकार' का

भी बिलकुल यही रंग है।

गोपाल मित्तल देश के बटवारे से पूर्व पंजाब (अब पाकिस्तान) के कई पत्रों के सम्पादकीय विभागों में रह चुके हैं। दिल्ली आकर आप पहले 'मिलाप' में, और फिर 'तेज' में उपसम्पादक हुए। परन्तु विचारों में मतभेद होने के कारण इन्होंने उक्त दोनों पत्र छोड़ दिए और इसी वर्ष के आरम्भ में अपना मासिक पत्र 'तहरीक' चलाया। इनके पत्र की विचार-धारा उर्दू के प्रायः सभी पत्रों से अलग-थलग है। यह प्रगतिशील तो है, परन्तु साम्यवादियों का कट्टर विरोधी। 'जोश' मलीहाबादी के भानजे 'इज़हार' मलीहाबादी के सम्पादकत्व में 'शोलओ शबनम' नामक मासिक पत्र निकला, जिसके कर्ता-धर्ता आग़ा 'शायर' के शिष्य दिगम्बरप्रसाद 'गौहर' हैं। अब इस पत्र से 'इज़हार' मलीहाबादी का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आजकल उर्दू-पत्र सबसे अधिक संख्या में दिल्ली से प्रकाशित होते हैं, छोटे-बड़े पत्रों को मिलाकर यह संख्या १०० के ऊपर पहुँचती है। इनमें दैनिक भी हैं और साप्ताहिक भी, पाक्षिक भी हैं और मासिक भी। कुछ त्रैमासिक भी यहाँ से प्रकाशित होते हैं, जैसे भीमसेन 'ज़फ़र' अदीब का 'माहौल'। इस पत्र का प्रबन्ध तो दिल्ली की 'अञ्जुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू' की मन्त्रिणी हमीदा सुलतान के हाथों में है। बहुत-से पत्र जिस वर्ष जन्म लेते हैं उसी वर्ष समाप्त हो जाते हैं। कुछ के मुद्रक और प्रकाशक उन पत्रों को दूसरों के हाथों बेच देते हैं, ऐसी अवस्था में पत्र की नीति भी कभी-कभी बदल जाती है। उदाहरणार्थ 'आर्यावर्त' को ले लीजिये। यह पत्र पहले धार्मिक रूप में प्रारम्भ हुआ था, परन्तु बिका ऐसे लोगों के हाथों, जिन्होंने इसकी नीति फ़िल्मी कर दी और अब इसमें ऐसी अश्लील कहानियाँ छपती हैं कि पत्र का नाम देखकर बहुत दुःख होता है। आजकल फ़िल्मी और कहानी-सम्बन्धी पत्रों का बहुत ज़ोर है। इनमें 'बीसवीं सदी', 'पयामे मशरिक़' तथा 'फ़िल्म आर्ट' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

देश के बटवारे के बाद

सन् १९४७ में देश स्वतन्त्र भी हुआ और विभाजित भी। जब जीवन के हर अंग पर इन दोनों बातों का प्रभाव पड़ा, तब फिर भाषा ही उससे कैसे बच सकती थी ? पाकिस्तान की भाषा उर्दू हो गई और भारत की हिन्दी। भाषा का प्रश्न भारत में पहले ही एक राजनीतिक प्रश्न बन चुका था। हम पिछले अध्यायों में इसका वर्णन कर चुके हैं। देश के बट जाने से भाषा भी बट गई और बहुत-सी बातें, जो पहले असम्भव लगती थीं, अब सम्भव हो गईं। पाकिस्तान में हिन्दी के लिए कोई स्थान नहीं रहा। अभी उसका विधान बना भी नहीं है, परन्तु विधान बनने पर भी यह आशा नहीं की जा सकती कि हिन्दी को वहाँ कोई स्थान मिल सकेगा। भारत में उर्दू उन चौदह भाषाओं में से एक है, जिनको विधान में माना गया है। परन्तु काश्मीर को छोड़कर, जिसका अभी भी कोई ठिकाना नहीं, उर्दू को किसी प्रान्त की भाषा नहीं माना गया है। 'अञ्जुमन तरक्की-ए-उर्दू' यह प्रयत्न कर रही है कि उर्दू-भाषा को राष्ट्र-भाषा हिन्दी के साथ दिल्ली और उत्तर प्रदेश की प्रान्तीय भाषा मान लिया जाय। परन्तु इस आन्दोलन के सफल होने की बहुत आशा नहीं। दूसरी ओर 'अञ्जुमन तरक्की-ए-उर्दू' देश के विभाजन से पहले राष्ट्रीय नेताओं, कांग्रेस और कभी-

कभी राष्ट्रीय आन्दोलनों के विरुद्ध जो जहर उगलती रही थी उसको भुला देना भी कठिन है। आज भी 'अञ्जुमन तरक्की-ए-उर्दू' का लहजा बहुत अच्छा नहीं। पश्चिमी पाकिस्तान से जो लोग निर्वासित होकर आये, वास्तव में आज भी 'पंजाबी' के बाद उनकी भाषा 'उर्दू' ही है; परन्तु राजनीतिक कारणों से उनमें से बहुतों ने न अपनी भाषा 'पंजाबी' लिखाई और न 'उर्दू' ही। 'पंजाबी' लिखायें तो खालिस्तान बन जाने का डर है; और 'उर्दू' इसलिए नहीं लिखाते कि वह पाकिस्तान की सरकारी भाषा बन चुकी है। यहाँ तक कि पंजाब से आए हुए व्यक्तियों में से अधिकांश उर्दू के ही पत्र पढ़ते हैं, परन्तु जन-गणना में प्रायः सभीने अपनी भाषा 'हिन्दी' लिखाई है।

यह तो हिन्दी-उर्दू की बात है। जहाँ तक बटवारे के बाद उर्दू की शैली का सम्बन्ध है उसमें एक ओर मार-काट की कहानियाँ और दूसरी ओर निराशाजनक कविताओं का बाहुल्य हो गया। जो लोग निर्वासित होकर आये, उनकी कविताओं तथा लेखों में तो निराशा होनी ही थी, क्योंकि वह घर-बार छोड़कर और कहीं-कहीं अपने सम्बन्धियों तक को बटवारे की भेंट देकर आए थे। ठीक यही कारण भारत के मुसलमान कवियों और लेखकों की शैली में निराशा का आधिक्य हो जाने का है, क्योंकि भारत में, विशेषकर भारत के उन प्रान्तों में, जहाँ कि उनका पहले बहुत प्राधान्य था, उनकी भी बहुत दुर्दशा हुई। अब वह पीड़ित और निर्वासित मुसलमान एक-दूसरे की शैली को अपनाने लगे। विभाजन के बाद जो दशा थी वह तो आज नहीं रही, परन्तु वह शैली आज भी प्रचलित है। देश में जो रचनात्मक कार्य हो रहा है उसका वर्णन कवियों और लेखकों के यहाँ बहुत कम पाया जाता है।

पाकिस्तान बनने के बाद कुछ ऐसा हुआ कि उर्दू के कवियों और लेखकों पर विपत्तियाँ भी बहुत आईं। बहुत बड़े-बड़े कवि परलोक सिधार गए। अनवर हुसैन 'आरज़ू' (जो 'जलाल' के सबसे प्रसिद्ध शिष्य थे और जिन्होंने 'खालिस उर्दू' नाम की नई शैली निकाली थी, जिनका अरबी-

फ़ारसी का एक भी शब्द न होता था) कराची में मरे। इन्होंने सिनेमाओं के गीत भी बहुत लिखे थे। अल्लामा 'सीमाब' अकबराबादी ने, जो 'दाग़' के शिष्य थे और गद्य तथा पद्य दोनों ही में लिखते थे, पाकिस्तान जाकर वहाँ से 'परचम' नाम का एक पत्र निकाला; परन्तु कुछ दिनों बाद इनका भी देहान्त हो गया। 'सफ़ी' लखनवी (जिनके शिष्य 'अज़ीज़' लखनवी थे) ६० वर्ष की आयु में अपने छोटे भाई 'ज़रीफ़' लखनवी की मृत्यु का समाचार सुनकर सदा के लिए सो गए। पंजाब का रहस्यवादी कवि 'अख़्तर' शीरानी मदिरा-पान के कारण युवावस्था में ही चल बसा। मौलाना 'हसरत' मोहानी, जिन्होंने राजनीतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में बहुत नाम पाया था, पिछले वर्ष ही परलोक सिधारे हैं। 'निहाल' सिवहारवी, जो नवाब सायल के मुख्य शिष्य थे, अपने जवान बेटे के दुःख में चल बसे।

अब यह प्रश्न है कि उर्दू का क्या बनेगा ? कुछ लोगों का कहना है कि उर्दू अब पृथक् लिपि के रूप में जीवित न रह सकेगी। आचार्य नरेन्द्र-देव-जैसे विद्वान् (जिन पर साम्प्रदायिक वातावरण का कुछ भी प्रभाव नहीं है और जो भाषा को वैज्ञानिक रूप से देखते हैं) का भी यही विचार है। महात्मा गांधी अवश्य इस पक्ष में थे कि भाषा हिन्दुस्तानी हो और दोनों लिपियाँ रहें, परन्तु जब विधान बना तो वह शहीद हो चुके थे। इस विधान में हिन्दुस्तानी नाम की कोई भाषा नहीं है, हिन्दी राष्ट्र-भाषा है और उर्दू एक ऐसी भाषा है जिसका कोई प्रान्त नहीं। आचार्य नरेन्द्रदेव का यह विचार समाजवादी दल ने भी अपना लिया है कि उर्दू लिखी तो जाय हिन्दी-लिपि में परन्तु उसकी शब्दावली अपना स्वतन्त्र रूप रखे। हिन्दी और उर्दू के झगड़े में बहुत-से शब्दों के लुप्त हो जाने का भय है। शुद्ध भाषा की ऐसी लहर है कि शायद यही मनोवृत्ति रही तो 'सूरज' और 'रात' आदि शब्द, जो 'सूर्य' और 'रात्रि' से बने हैं, अपने प्रचलित रूप में न रह सकेंगे। झगड़ा अधिकतर नगर-निवासियों का है, जो जन-गणना में १५ प्रतिशत से अधिक नहीं। गाँवों में भाषा का कोई झगड़ा नहीं।

वही ग्रामीण एक बार 'घर' और दूसरी बार 'मकान' बोलता है। 'बाजार' को चाहे वह 'बजार' कहे, परन्तु उसे यह नहीं खटकता कि मैं फ़ारसी शब्द बोलता हूँ।

विभाजन से जो हलचल पैदा हुई है वह तो धीरे-धीरे शान्त हो ही रही है, परन्तु भाषा पर इसका जो प्रभाव पड़ा है उसकी भी प्रतिक्रिया होगी या नहीं यह कहना कठिन है। उर्दू में आशावाद उत्पन्न होगा या नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह सब भविष्य की बातें हैं।

उर्दू की छन्द-शब्दावली

मिसरा—कविता की एक लाइन को 'मिसरा' कहते हैं। जैसे :

'हम हुए, तुम हुए कि मीर हुए'

शेर—दो मिसरों का एक 'शेर' होता है। जैसे :

'हम हुए, तुम हुए कि मीर हुए,
उसकी ज़ुल्फ़ों के सब असीर हुए। (मीर)

रूबाई—यह चार मिसरों की होती है; जिसमें पहले, दूसरे और चौथे मिसरों का तुक मिलता है। जैसे :

गुलशन में शबा को जुस्तजू तेरी है,
बुलबुल की ज़बाँ पै गुफ़्तगू तेरी है;
हर रंग में जलवा है तेरी क़ुदरत का,
जिस फूल को सूँघता हूँ बू तेरी है। (अनीस)

क़ता—यह चार या अधिक मिसरों का होता है, जिसमें पहले और दूसरे मिसरों का तुक मिलना आवश्यक नहीं। जैसे :

जब कि सैयद ग़ुलाम बाबा ने,
मसनदे ऐश पर जगह पाई।
वह तमाशा हुआ बरात की रात,
कि कवाकिब बने तमाशाई। (ग़ालिब)

ग़ज़ल—इसका वर्णन इस पुस्तक में विस्तार से हो चुका है। इसके पहले शैर को 'मतला' और अन्तिम शैर को 'मक़्ता' कहते हैं। किसी-किसी ग़ज़ल में मतला (जिसमें दोनों मिसरों का एक ही तुक होता है) नहीं होता। 'मक़्ता' (जिसमें कवि का उपनाम या तखल्लुस होता है) चकबस्त की किसी 'ग़ज़ल' में नहीं।

क़सीदा—इसकी रूपरेखा तो ग़ज़ल ही की-सी होती है, परन्तु ग़ज़ल के शैर अलग-अलग भावों को लिये होते हैं और क़सीदे में एक ही भाव होता है। जैसे किसी की प्रशंसा या किसी का उपहास; किसी के लिए प्रार्थना या किसी राजा या रईस से कुछ माँगना। उर्दू में क़सीदे के प्रसिद्ध कवि 'सौदा', 'ज़ौक़' और इस शताब्दी में 'अज़ीज़' लखनवी हुए हैं। 'ग़ालिब' ने भी क़सीदे अच्छे कहे, परन्तु उनके समकालीन 'ज़ौक़' को इस क्षेत्र में उनसे श्रेष्ठ माना जाता है।

मुखम्मस—'खम्स' अरबी में पाँच को कहते हैं, उसीसे यह शब्द बना। इसका अर्थ है 'पाँच वाला'। 'मुखम्मस' में एक बन्द पाँच मिसरों का होता है और बहुत-से बन्द होते हैं। बन्द के पहले चारों मिसरों का तुक एक ही होता है और पाँचवें मिसरे का तुक या तो पहले चारों मिसरों से मिलता है या हर पाँचवें मिसरे का तुक मिलता चला जाता है। जैसे :

यह माना कुछ हैं मुफ़लिस, कुछ बने ज़रदार बैठे हैं
कुछ अहले सभा हैं, कुछ साहबे गुफ़्तार बैठे हैं
कुछ अपनी धुन में हैं, कुछ बाज़ूए हुंसार बैठे हैं
कमर बाँधे हुए चलने को याँ सब यार बैठे हैं,
बहुत आगे गये बाक़ी जो हैं तैयार बैठे हैं।

(सैयद इन्शा के ग़ज़ल पर मेरे मुखम्मस का प्रथम बन्द)

जिस मुखम्मस में पाँचवाँ मिसरा बार-बार एक ही आता है उसको 'तर्जीअ बन्द' कहते हैं।

मुसद्दस—'सिद्स' अरबी में छः को कहते हैं। 'मुसद्दस' का अर्थ है 'छः

वाला'। मुसद्दस का एक बन्द छः मिसरों का होता है। जैसे 'हाली' के 'मुसद्दसे मद्दो जज़रे इस्लाम' का पहला बन्द यह है :

किसी ने यह लुकमान से जाके पूछा,
मरज़ तेरे नज़दीक मोहलिक हैं क्या-क्या;
कहा उसने कोई मरज़ है न ऐसा,
दवा जिसकी ख़ालिक़ ने की हो न पैदा '
मगर वह मरज़ जिसको आसान समझें,
कहे जो तबीब उसको हिज़्यान समझे।

मुसद्दस के पहले चार मिसरों का एक तुक होता है और बाद के दो का दूसरा। अधिकतर मर्सिये मुसद्दस के ही रूप में होते हैं। पिछली शताब्दी में 'अनीस' के मुसद्दस की धूम थी। इस शताब्दी में 'हाली' का मुसद्दस सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ।

रदीफ़—उस शब्द को 'रदीफ़' कहते हैं, जो तुकान्त में बार-बार आता है। जैसे 'ग़ालिब' के एक शेर में :

कोई तदबीर बर नहीं आती,
कोई सूरत नज़र नही आती।

'नहीं आती' रदीफ़ है।

तुकान्त को उर्दू में 'काफ़िया' कहते हैं। उर्दू में महाकाव्य नाम की तो कोई वस्तु नहीं है परन्तु ऐसी कविताएँ मिलती हैं जिनमें 'मुसद्दस', 'ग़ज़ल', 'क़ता' तथा 'रूबाई' सब-कुछ है। मुन्शी गुरुसहाय 'मुलतजी' का 'सुदामा-चरित्र' इसीका एक उदाहरण है। पं० व्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' ने एक ही कविता में कई छन्द बदलने की प्रथा डाली। 'जोश' मलीहाबादी की अप्रकाशित कविता 'हरफ़े आखिर' इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है।

कुछ दिनों से उर्दू में अतुकान्त कविता भी चली है, अधिकतर प्रगतिशील कवि अतुकान्त कविता लिखते हैं, परन्तु अभी तक मुशायरों में तुकान्त कविताओं की ही धूम है। हाँ, तुकान्त के नियम भी कुछ ढीले किये जाने लगे हैं। सबसे पहले 'हाली' ने इसका सुझाव दिया था।

अतुकान्त कविता के विरोध में भी कविताएँ लिखी गईं। हास्य-रस के प्रसिद्ध लेखक 'ज़ाफ़री' ने और दिल्ली-कालिज के उर्दू के लेक्चरार ग़ुलाम अहमद 'फ़ुरक़त' ने इस सम्बन्ध में व्यंगमय कविताएँ लिखी हैं। प्रगतिशील कवियों ने अतुकान्त ही नहीं बल्कि मुक्त छन्द में भी कविताएँ लिखी हैं। अभी चूँकि यह प्रयत्न नया है इसलिए कहीं-कहीं छन्द इतना असंगत हो जाता है कि कर्ण-कटु लगता है।

उर्दू के छन्द फ़ारसी और अरबी से लिये हुए हैं, परन्तु नादिर 'काकोरवी' ने उर्दू के दोहे भी लिखे और अजमतुल्ला खाँ 'अजमत' ने ऐसे छन्दों में लिखा, जो हिन्दी और उर्दू दोनों में मान्य हैं।

मसनवी—यह बात बताने को रह गई कि 'मसनवी' में, जो उर्दू का कथा-काव्य है, हर एक शैर के दो मिसरों का एक तुक होता है, परन्तु हर शैर का तुक अलग-अलग होता है। 'गुलज़ार नसीम' के इन पहले दो शैरों से मसनवी की बात समझ में आ जायगी :

हर शाख़ में है शुगूफ़ाकारी
समरा है क़लम का हमदेबारी
करता है यह दो ज़बाँ से यकसर
हमदे हक़ो मिदहते पयम्बर

इनमें पहले शैर के दोनों मिसरों में 'कारी' और 'बारी' तथा दूसरे शैर के दोनों मिसरों में 'यकसर' और 'पयम्बर' तुकान्त हैं।